श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
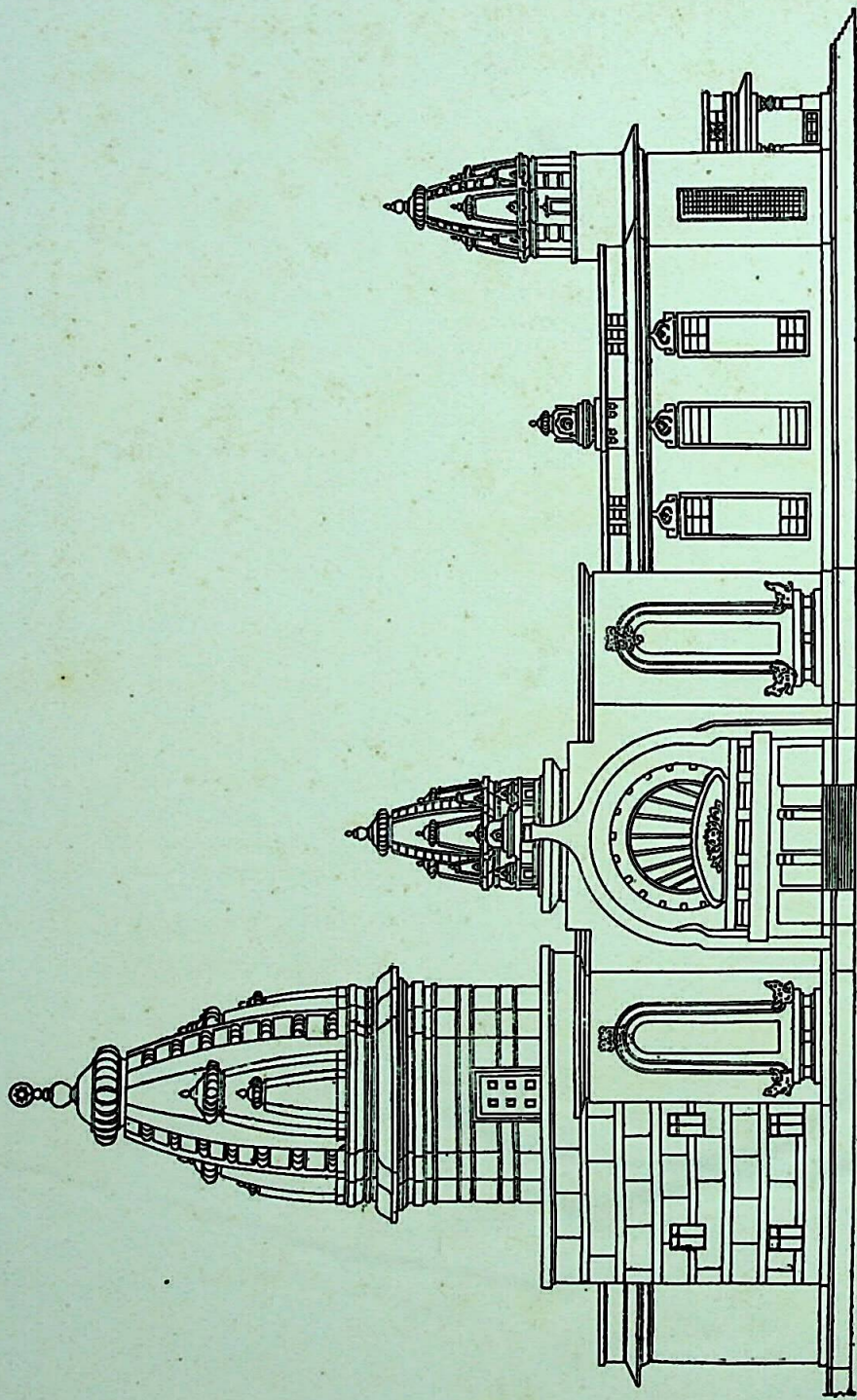
निर्माणाधीन भागवत-भवनके पार्श्वभागका रेखा-चित्र

क॰
37

श्रीकृष्ण-सन्देश

आत्मानं सततं विद्धि

(मासिक)

वर्ष—३]   अगस्त १९६७   [अंक—१

आराधना अङ्क

परामर्श-मण्डल

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीवियोगीहरि

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

*

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

सम्पादक

श्रीव्यथितहृदय

*

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

*

मूल्य

एक अङ्कका पचास नए पैसे/इस अङ्क का दो रुपया

वार्षिक शुल्क

सात रुपया

आजीवन शुल्क

एकसौ इक्यावन रुपया

मुद्रक : बम्बई भूषण प्रेस, मथुरा।

आत्म-निवेदन

प्रस्तुत अङ्कसे 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अपने तृतीय वर्षमें प्रवेश कर रहा है। प्रस्तुत अङ्क 'आराधना' अङ्क है। हम 'आराधना अङ्क' को भगवान् वासुदेवके चरणोंमें सर्मपित करते हुए ही अपनी तृतीय वर्षकी यात्रा आरम्भ कर रहे हैं और अपने पाठक-पाठिकाओं, ग्राहकों, विज्ञापन-दाताओं, मित्रों, सहयोगियों लेखकों, कवियों और हितैषियोंके लिए हार्दिक मंगल कामना प्रकट कर रहे हैं तथा साथ ही उनसे सहयोगके लिए प्रार्थना कर रहे हैं।

हम उन लेखक-बन्धुओं और विचार-मनीषियोंके हृदयसे आभारी हैं, जिन्होंने हमारी प्रार्थना पर आराधना अङ्कके लिए अपनी रचनाएँ भेजकर हमें बल और उत्साह प्रदान किया है। हमें आंतरिक दुःख है कि हम उन सभी रचनाओंका आराधना अङ्कमें उपयोग न कर सके। पहले यह योजना बनी थी कि आराधना अङ्क दो सौ पृष्ठोंका प्रकाशित किया जायगा। पर कुछ अनिवार्य कारणों वश उसे एकसौ पचास पृष्ठों में ही सीमित कर देना पड़ा। परिणामस्वरूप बहुतसी श्रेष्ठ और सुन्दर रचनाएँ प्रेसमें ही रह गईं। हम उनके लेखकोंसे क्षमाकी याचना कर रहे हैं। आशा है, वे हमारी विवशताओं पर दृष्टि डालते हुए हमें क्षमा तो कर ही देंगे, साथही अपना पूर्ववत् स्नेह और सहयोग देते रहेंगे।

एक बार फिर हम जन्मअष्टमीके इस पुनीत अवसर पर अपने समस्त हितैषियोंका अभिनन्दन कर रहे हैं और उनके प्रति अपनी हार्दिक मंगल कामना प्रकट करते हुए, उन्हींके सहयोग, आशीर्वाद और स्नेह के बल पर तृतीय वर्षकी अपनी यात्रा प्रारम्भ कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष ३] मथुरा, अगस्त १९६७ [अङ्क १

वन्दना

चरन कमल बन्दौं हरिराई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कों सब कछु दरसाई ।।
बहिरौ सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
'सूरदास' स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तेहि पाई ।।

सूरदास

★

हो तुम्हारी किस तरह आराधना ?

★

त्याग तप मुझमें न कोई साधना ;
हो तुम्हारी किस तरह आराधना ?

वासनाएँ हैं बहुत-सी चित्त में ,
जी लगा रहता विभव में वित्त में ।
जो तुम्हारा ही भवन अभिराम है ,
उस हृदय में आ बसा अब काम है ।
क्षुब्ध मानस शान्त हो कैसे कभी ?
रुद्ध तृष्णा की लहर पल आध-ना ।

रूप रस मृदु-गन्ध शब्द स्पर्श की—
कामनाएँ निधि बनीं जब हर्ष की ,
तब अतीन्द्रिय नित्य त्रिगुणातीत तुम ,
बन सकोगे प्राण ! कैसे मीत तुम ?
जब तुम्हारे पाद - पद्मों में नहीं—
मन - मधुप को चाहता मैं बाँधना ।

पर निराले तुम सुहृद, सुनता सदा ,
और ग्रन्थों में यही गुनता सदा ।
कौन कैसा ? यह नहीं देखा किया ,
पूतना जननी बनी, कुब्जा प्रिया ,
प्रेमियों के तुम ऋणी हो चिर हरे !
पा सका वह प्रीति किन्तु अगाध-ना ।

एक दिन सर्वस्व अपना लुट गया ,
वह अनुग्रह था तुम्हारा स्फुट नया ।
फिर फिसल कर जब गिरा मैं कीच में ,
तुम उठाने आ गये झट बीच में ।
दे करारी चोट सहलाना पुनः—
देख टूटे धैर्य की यह बाँधना ।

क्या रिझा सकती तुम्हें आराधना ?
बाँध सकती क्या किसी की साधना ?
तुम स्वतन्त्र तथापि करुणा सिन्धु हो ,
दीन मैं तुम दीन जन के बन्धु हो ।
सहज करुणा ही तुम्हारी प्राणधन !
है परम पुरुषार्थ या संराधना ।

—पाण्डेय श्री रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य 'राम'

"जब हम भगवान् का नाम लेते हैं, तो सहसा हमारे चित्त में भगवान् के रूप और गुणों की स्मृति जागृत हो जाती है। भगवन्नाम-स्मरण से चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकार चित्त में भला पाप-ताप के लिए स्थान ही कहाँ ?"

पाप-ताप की महौषधि; नाम-स्मरण

पूज्य महामना पं० मदनमोहन मालवीय

आज कल नाम-जप पर बहुत जोर दिया जाता है। आप सब लोग भी भगवन्नामके जप और कीर्तनमें ही लगे हुए हैं। किंतु आप यह तो बताइए कि नाम-जप क्यों करना चाहिये ? इससे क्या लाभ है ? लोग कहते हैं, भगवान् का नाम लेने से पाप कटते हैं, परन्तु इसमें युक्ति क्या है ? आप में से कोई भी इसका उत्तर दे। बात यह है, कि हम जिस समय किसी वस्तु का नाम लेते हैं, तो तत्काल हमें उसकी आकृति और गुण आदि का भी स्मरण हो जाता है। जब हम 'कसाई' शब्द का उच्चारण करते हैं, तो हमारे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र अंकित हो जाता है, जिसकी लाल-लाल आँखें हैं, काला शरीर है, हाथ में छुरा है, और बड़ा क्रूर स्वभाव है। 'वेश्या' कहते ही हमारे हृदय-पटल पर वेश्याकी मूर्ति अंकित हो जाती है। इसी प्रकार जब हम भगवान् का नाम लेते हैं, तो सहसा हमारे चित्त में भगवान् के दिव्य रूप और गुणों की स्मृति जाग्रत हो जाती है। भगवन्नाम-स्मरण से चित्त अनायास ही भगवदाकार हो जाता है। भगवदाकार चित्त में भला पाप-ताप के लिये स्थान ही कहाँ ? इसी लिए नाम स्मरण पाप नाश की अमोघ औषधि है।

बिना जाने भगवान् का नाम लेने से भी किस प्रकार पाप नष्ट हो जाते हैं, इसके विषय में श्रीमद्भागवत के छठे स्कंध में एक बड़ी अद्भुत कथा है। अजामिल नाम का एक बड़ा ही दुराचारी और दुष्ट प्रकृति का ब्राह्मण था। उसके सबसे छोटे पुत्र का नाम 'नारायण' था। जब अजामिल का अन्तकाल उपस्थित हुआ, तब उसे लेने के लिए यमदूत आये। उनके भयंकर स्वरूप को देखकर अजामिल डर गया और उसने 'नारायण' कहकर अपने छोटे पुत्र को पुकारा। उसके मुख से 'नारायण' शब्द निकलते ही वहाँ विष्णु भगवान्के पार्षद उपस्थित हो गये। उन्होंने तुरंत ही उसे यमदूतों के पाश से छुड़ा लिया। जब यमदूतों ने उसके पापमय जीवन का वर्णन करते हुए यम-दण्ड का पात्र बतलाया, तब भगवान् के पार्षदों ने उनके कथन का विरोध करते हुए कहा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ।।
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ।।
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ।।

"इसने तो अपने करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त कर लिया; क्योंकि इस समय इसने विवश होकर भगवान् का मंगलमय नाम उच्चारण किया है। इसने जो 'नारायण' यह चार अक्षरों का नाम उच्चारण किया है, इतने से ही इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित हो गया। समस्त पापियों के लिये भगवान् विष्णु का नाम लेना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है, क्योंकि ऐसा करने से भगवद्विषयक बुद्धि होती है।"

विष्णु दूतों के इस प्रकार समझाने पर यमराज के सेवक यमलोक को चले गये और वहाँ ये सब बातें धर्मराज को सुनाकर उन्होंने उनसे पूछा—"महाराज, इस लोक में धर्माधर्म का शासन करने वाले कितने अधिकारी हैं और हमें किसकी आज्ञा में रहना चाहिये? भला, ये दिव्य पुरुष कौन थे? और उस महापापी को हमारे पाश से छुड़ाकर क्यों ले गये?" तब यमराज ने कहा—"परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम्" इत्यादि। अर्थात् मेरे भी ऊपर एक और स्वामी है, जो समस्त स्थावर-जंगम का शासक है और जिसमें यह संपूर्ण जगत ओत प्रोत है। उन सर्व तंत्र स्वतंत्र श्री हरिके दूत, जो उन्हीं के समान रूप और गुण वाले हैं, लोक में विचरते रहते हैं और श्री हरिके भक्तों को, उनके शत्रु और मृत्यु आदि सब प्रकार की आपत्तियों से बचाते रहते हैं। संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म यही है कि वह नाम-जपादि के द्वारा भगवान् के चरणों में भक्ति करे। देखो, यह भगवन्नामोच्चारण का ही माहात्म्य है, कि अजामिल-जैसा पापी भी मृत्यु के पाश से मुक्त हो गया।'

महाभारत-शांति पर्व की कथा है कि जिस समय शर-शय्या पर पड़े हुए पितामह भीष्म से महाराज युधिष्ठिर ने पूछा—

को धर्मः सर्व धर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्म संसार बंधनात् ।।

"संपूर्ण धर्मों में आपके विचार से कौन-सा धर्म सर्वश्रेष्ठ है, और मनुष्य किसका जप करने से जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त हो जाता है?" तब पितामह ने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नाम सहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ।।
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम् ।
ध्यायन्स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च ।।
अनादि निधनं विष्णुं सर्वलोक महेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ।।

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥
एष मे सर्व धर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यः महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥

"जो संपूर्ण संसार के स्वामी, देवों के देव, अनन्त एवं पुरुषोत्तम हैं, उन आदि-अन्त से रहित, संपूर्ण लोकों के महान् ईश्वर और सबके साक्षी भगवान् अच्युत की नित्य प्रति उठकर आठ हजार नामों से स्तुति करने से तथा उन अविनाशी पुरुषोत्तम का ही भक्ति पूर्वक पूजन, ध्यान, स्तवन, और वंदन करने से मनुष्य संपूर्ण दुःखों से पार हो जाता है। वे श्री विष्णु ब्राह्मणों के हितकारी, समस्त धर्मों के ज्ञाता, लोकों की कीर्ति को बढ़ाने वाले, लोकों के स्वामी, महद्भूत, और सम्पूर्ण भूतों के उत्पत्ति स्थान हैं। मेरे विचार से मनुष्य के सम्पूर्ण धर्मों में सबसे बड़ा धर्म यही है कि जो अत्युत्कृष्ट तेज, अति महान् तप, परमोत्कृष्ट ब्रह्म, और बड़े से बड़े आश्रय हैं, तथा जो पवित्रों में पवित्र, मंगलों में मंगल, देवों में महान् देव, और समस्त भूतों के अविनाशी पिता हैं, उन कमल-नयन भगवान् का मनुष्य सर्वदा भक्ति पूर्वक स्तवन करे।"

इस प्रकार भीष्मजी ने भगवान्को ही सबसे अधिक पूजनीय देव, और भगवन्नाम-स्मरण को ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। भगवन्नामकी महिमा ऐसी ही विचित्र है। इसके उच्चारण मात्र से ग्रह, नक्षत्र एवं दिक् शूलादिके दोष निवृत्त हो जाते हैं। मैंने अपनी माता से यह वर माँगा था कि मुझे प्रायः नित्य ही बाहर आना-जाना होता है, इसलिये ऐसा आशीर्वाद दो, जिससे ग्रह दोष जनित विघ्न उपस्थित न हों। मेरी माता ने मुझसे कहा, "तू यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व 'नारायण' इस नाम का उच्चारण कर लिया कर, फिर कोई विघ्न नहीं होगा।" माताजी के इस आशीर्वाद से मुझे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है, मैं जिस समय 'नारायण' इस प्रकार उच्चारण करके यात्रा आरम्भ करता हूँ, तो सारे विघ्न दूर खड़े रहते हैं।

यही बात श्रीमद्भागवत के 'नारायण-कवच' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र में भी बतलाई गई है। यह स्तोत्र भी भागवत के छठे स्कन्ध में ही है। वहाँ कहा है—

यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च ।
सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव वा ॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् ।
प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयः प्रतीपकाः ॥

"ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, सरीसृप, हिंस्रजीव अथवा पापों से हमें जो भय प्राप्त हो सकते हैं तथा हमारे श्रेय-मार्ग के जो-जो प्रतिबन्ध हैं, वे इस भगवन्नाम रूप अस्त्र (कवच) का कीर्तन करने से क्षीण हो जायें।"

भगवन्नाम लेने से मनुष्य के सारे पाप उसी प्रकार कट जाते हैं, जैसे दूध डालने से चीनी का मैल कट जाता है। नाम का प्रभाव हमारे चित्त को सर्वथा व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार जल में तेल की एक बूंद डालने पर भी वह सारे जल के ऊपर फैल कर उसे ढक लेती है, उसी प्रकार अर्थानुसन्धान पूर्वक किया हुआ थोड़ा-सा भी नाम-जप मनुष्य के सारे पापों को नष्ट कर देता है। अतः भगवन्नाम-जप तथा स्मरण से समस्त पापों का नाश होकर दिव्य शान्ति प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

आराधना के क्षणों में

गद्य काव्य

शरद् राका की उज्ज्वल शुभ्र शरज्ज्योत्स्ना-प्रभा से था,
प्रशस्त भू-मण्डल दीप्तिमान्......
रजत रश्मियों से चमत्कृत...अभिनव चन्द्रिका-केलि से मुखरित अवनि-मण्डल पर,
प्रतिभासित होता था अपूर्व उल्लास, और सर्वत्र दिशाओं में था,
जगमग, जगमग......
अनन्त सुमन-सुरभि-राशि से सुरभित त्रिविध समीर पावन कालिन्दी के कल-कूलों को चूमता हुआ, कर रहा था केलि, मधुर रँगरलियाँ।
थिरक रही थी, उसके अनन्त कल-गान में मंजुल मधुरिमा और उसके हृदय-पट पर,
तरल ऊर्म्मियाँ कर रही थीं मोहक अठखेलियाँ।
कुछ डरते हुए, सकुचाते हुए पूछा...
रवि-तनये, यमुने...
किस अनन्त का गान कर रही हो ?
पर, अहो, उस तल्लीनमनस्का श्याम-प्रेयसि को इस अज्ञात प्रश्न की अनुभूति कहाँ ?
सोचा, प्रश्न का उत्तर मिलेगा...
पर, स्तब्धता...वही अस्फुट कलरव...
सहसा मौन-ध्वनि पड़ी, कर्ण-पुटों में......
सुना, "वंशी वाले का"......
ध्यान से फिर सुना, तो उसी "कल-गान" का मनोहर-रव,
और सुनी, मौन "पदध्वनि"......
किसका था, यह 'उत्तर'......क्या था वह 'गान'......
किसकी थी, वह "मूक पद ध्वनि" ?.........

श्री गोकुलानन्द तैलङ्ग सा० र०

"हे प्रभो ! मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो, और तुम्हारे पास पहुँचने का क्या साधन है ? मैं यह सब जान सकूँ—इसका मेरे पास कोई उपाय नहीं है। मुझ आश्रय-हीन के तुम्हीं आश्रय हो, मुझ दीन के तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारी के तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ।"

भगवान् श्रीकृष्णः आराधना की एक अनुभूति

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

"कहीं इस तरह भी जप किया जाता है ? धीर गम्भीर भाव से अर्थ का अनुसन्धान करते हुए अन्तस्तल से एक-एक अक्षर का उच्चारण करो। उसके साथ एक हो जाओ, क्या तुम बेगार भरने के लिये संख्या पूरी करते हो ?" एक सुर से वे इतना बोल गये और मेरा सिर पकड़ कर हिला दिया। मैंने चौंककर देखा तो एक लम्बे-तगड़े, गौर-वर्ण के तेजस्वी महात्मा मेरी आँखों के सामने खड़े हैं। मैंने माला वहीं छोड़ दी, सिर से उनके चरणों का स्पर्श किया और जिस चौकी पर मैं बैठकर जप कर रहा था, उस पर उन्हें बैठा दिया, और मैं स्वयं उनके चरणों के पास जमीन पर ही बैठ गया।

ये महात्मा मेरे अपरिचित नहीं थे, मैंने इन्हें तब देखा था, जब मेरी अवस्था आठ वर्ष की भी नहीं रही होगी। ये कभी-कभी मेरे बाबाके पास आया करते थे। इनके दिये हुए नारियल के प्रसाद मुझे भूले नहीं थे। उनके भरे हुए मुख-मण्डल पर एक ऐसी आकर्षक ज्योति जगमगाती रहती थी, जिसे एक बार देख लेने पर हृदयपर गहरी छाप पड़ जाती थी। गठा हुआ नेपाली शरीर, लोगों से कम मिलना-जुलना, और अपनी कुटी में रहकर एकान्त साधन करना—यही उनके जीवनकी विशेषताएँ थीं। वे चौमासे में प्राय: नेपाल चले जाते थे और बाकी महीनों में मेरे गाँव से दो मील की दूरी पर एक विशाल वटवृक्ष की छाया में बनी हुई छोटी-सी कुटिया में रहते थे। मैं न जाने कितनी बार इनसे मिला था। परन्तु आज की तरह नहीं। आज तो चार बजे रात को जब मैं अपनी जप संख्या पूरी करने के लिये जल्दी-जल्दी माला फेर रहा था, तब अचानक इनके दर्शन हुए और उपर्युक्त बात कहकर वे उस छोटी-सी चौकी पर बैठ गये। वे मौन थे, उनके चरणों की ओर देखता हुआ मैं भी मौन था। इस प्रकार पन्द्रह बीस मिनट तो बीत ही गये होंगे।

उन्होंने अपना मौन भंग करते हुए कहा—मुझे इस समय यहाँ देखकर आश्चर्य-चकित होने की बात नहीं। मैंने सुना कि अब तुम उपनिषदादि पढ़कर लौट आये हो और परमात्मा की ओर तुम्हारी कुछ प्रवृत्ति है, तो मन में आया—चलें, जरा देख आवें, क्या हालचाल है ? इतना सवेरे आने का कारण यह था कि मनुष्यों की प्रवृत्ति जानने के लिये यही समय उपयुक्त है। किसी मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति जाननी हो तो यह देखना चाहिये कि वह क्या करता हुआ सोता है और क्या करता हुआ जागता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ मनुष्य को उसकी रुचि और प्रवृत्ति के समीप रखती हैं। तुम्हें जप करते देखकर मुझे बड़ा सुख हुआ। तुम्हारी शुभेच्छा और तत्परता प्रशंसनीय है, परन्तु इसमें कुछ संशोधन होने चाहिये, किन्तु उन्होंने उस समय मेरे प्रश्न को टालते हुए कहा—चलो, अभी तो गंगाजी चलें। शुद्ध प्रभाती वायु के सेवन से शरीर में एक नवीन स्फूर्ति का प्रवाह होने लगता है, मन प्रसन्न हो जाता है और शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है। इसलिये चलो गंगाजी, गंगा स्नान तो होगा ही, प्रातःकालीन भ्रमण भी हो जायगा।' वे आगे-आगे चले और मैंने उनका अनुसरण किया।

गंगाजी के प्रति मेरा सहज आकर्षण है। गंगाजी का पुलिन, तट के वृक्ष, अठ-खेलियाँ करती तरंगें मेरे मन को बरबस हर लेती हैं। मेरे मन में एक नहीं, अनेक वार ऐसी इच्छा होती है कि मैं गंगा-तट पर रहूँ, केवल गंगा-जल पीऊँ और स्वर्ण-सी चमकती हुई, नवनीत-सी कोमल वालुकाओं पर मन-भर लोटूँ, लोटता ही रहूँ। जब मैं परमहंसजी के पीछे-पीछे चला, तब मेरे मन में केवल यही कल्पना थी कि आज परमहंसजी के साथ गंगाजी में खूब स्नान करूँगा, उनसे जप और ध्यान की विधि सीखूँगा। रास्ते में न वे बोले, न मैं। दोनों मौन रहे; परन्तु गंगाजी की दूरी ही कितनी थी; बस, एक मील से कुछ अधिक। बात की बात में हम वहाँ पहुँच गये। शौच, स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्य-कृत्यों से निवृत्त होकर वहीं मनोहर वटवृक्ष के नीचे बैठ गये। परमहंसजी का रुख देखकर मैंने उनसे पूछा—भगवन् ! जप में यदि संख्या पूर्ति का ध्यान न रखें, तो कैसे काम चले, क्या जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक नाम-जप कर लें ? यही उत्तम नहीं है ? उन्होंने कहा—उत्तम क्यों नहीं है ? भगवान् का नाम चाहे जैसे लिया जाय, उत्तम ही है। परन्तु नाम-जप के साथ यदि भाव का संयोग हो, प्राणों का संयोग हो और रस लेते हुए नाम-जप किया जाय तो उसका फल पग-पग पर मिलता जाता है। एक-एक नाम का उच्चारण अपरिमित आनन्द का दान करने वाला होता है। केवल नामोच्चारण सफल तो होता है, परन्तु कुछ विलम्ब से।'

'देखो, तुम्हें मैं स्पष्ट वतलाता हूँ। परमहंसजी कहने लगे—साधारणतः नाम-जप वागिन्द्रिय का काम है। वागिन्द्रिय एक कर्मेन्द्रिय है,उसका संचालन प्राण-शक्ति के द्वारा होता है। वागिन्द्रिय से जप करने का अर्थ है—प्राणों के साथ उसको एक कर देना। यदि जप स्वर से होता है, जिह्वा की एक नियमित गति रहती है, तो प्राणों की गति भी नियमित रूप धारण कर लेती है। वेसुरे ढङ्ग से एक साँस में पाँच-सात बार राम नाम कह जाने की अपेक्षा एक बार स्वर से कहना उत्तम है। गम्भीरता के साथ "रा···म, रा···म" इस प्रकार जप करने में प्राणायाम की अलग आवश्यकता नहीं होती। क्रिया शक्ति पर नियन्त्रण

होने के कारण आसन स्वयं सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक तो स्थूल क्रिया की बात हुई। जप केवल कर्मेन्द्रिय से नहीं होता। और इन्द्रियों की अपेक्षा वागिन्द्रिय की एक विशेषता है, वह यह है कि वागिन्द्रिय के साथ ज्ञानेन्द्रिय, जिसको रसना कहते हैं, रहती है। अधिकांश तो वागिन्द्रिय से ही जप करते हैं, उसमे रसनेन्द्रिय का उपयोग नहीं करते। उपयोग करने की तो बात ही क्या, उसका स्वरूप ही नहीं जानते। रसना का काम है—रस लेना। वागिन्द्रिय से नाम का उच्चारण हो और रसना उसका रस ले, प्रत्येक नाम की मधुरता का आस्वादन करे—यह परिणाम मे ही नहीं, वर्तमान में भी सुखद है। इस प्रकार रस को धारण करने से प्रत्याहार की अलग आवश्यकता नहीं होती। ज्ञानेन्द्रिय और मन का एकत्व हो जाता है। नियमित गति से वागिन्द्रिय प्राण में लय होती है और रस लेने से ज्ञानेन्द्रिय मन में लय हो जाती है। इस समय यदि मन्त्रार्थ का चिन्तन रहा, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चिन्तन में प्राण और मन दोनों एक हो जायेंगे। प्राण और मन का एकत्व ही सुषुम्णा का संचार है और यही पहले ध्यान की एवं पीछे समाधि की अवस्था है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि जप मे तीन बातें रहें—मन्त्र का उच्चारण गम्भीरतापूर्वक नियमित गति से हो, मन्त्र की मधुरता का आस्वादन हो और मन्त्र के अर्थ का चिन्तन हो, तो किसी भी हठयोग या लययोग की आवश्यकता नहीं है, केवल जप से ही पूर्णता प्राप्त हो जाती है। एक बात और है। मन्त्रार्थ-चिन्तन का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके शब्दों का अलग-अलग अर्थ जान लिया जाय। मन्त्र का एक मात्र अर्थ है, अपने इष्ट देवता। उनका जो स्वरूप अपने चित्त में हो, उसका चिन्तन ही मन्त्रार्थ-चिन्तन है।

'यदि तुम इस बात को समझकर उसके अनुसार जप कर सकोगे तो तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।' इतना कहकर उन्होंने अपने उपदेश का उपसंहार किया। मैं अभी कुछ और सुनना चाहता था। मुझे परमहंसजी के उपदेशानुसार जप करने में बड़ी कठिनाइयाँ मालूम होती थीं, परन्तु मैंने अब इस समय कुछ पूछना उचित न समझा।

धूप हो रही थी, यह मालूम नहीं था कि ये अपनी कुटी पर जायेंगे या मेरे घर, इसलिये मैं चुप रहा और मेरा भाव समझकर उन्होंने वहाँ से यात्रा शुरू कर दी, मैं भी उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

परमहंसजी की कुटिया बड़े सुन्दर स्थान पर थी। जल का भारी ताल, बड़े सुन्दर-सुन्दर घने वृक्ष देखने योग्य थे। परमहंसजी तो कभी-कभी उन वृक्षों से घण्टों बात करते रह जाते थे। आस-पास के गाँवों में वे सिद्ध के रूप में प्रख्यात थे, इसलिये उनकी इच्छा के विपरीत वहाँ कोई नहीं आता था। जब हम लोग वहाँ पहुँचे, तो सर्वथा एकान्त था। मुझे बाहर छोड़कर परमहंसजी अपनी एकान्त कुटिया में ध्यानस्थ हो गये और मैं बाहर बैठकर साधन की कठिनाइयों पर विचार करने लगा। मैं सोच रहा था, साधन तो सुगम से सुगम होना चाहिये। जन्म-जन्म से कठिनाइयों के चक्र में पिसता हुआ जीव यदि भगवान् की ओर चलने में भी कठिनाइयों के अन्दर ही रहे तो फिर साधना और साधारण स्थिति में अन्तर ही क्या रहा? अपनी असमर्थता, दुर्बलता और चंचलता को देखकर निराश हो गया। मैंने सच्चे हृदय से प्रार्थना की—हे प्रभो! मुझे मालूम नहीं कि तुम कैसे हो, कहाँ रहते हो, और तुम्हारे पास पहुँचने का क्या साधन है? मैं यह सब जान सकूँ, इसका मेरे पास कोई

उपाय नहीं है। मुझ आश्रय हीन के तुम्हीं आश्रय हो, मुझ दीन के तुम्हीं दयालु हो, मुझ भिखारी के तुम्हीं दाता हो। मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मुझे तुम्हीं अपना मार्ग दिखाओ, मैं प्रार्थना करते-करते तन्मय हो गया। यह पता नहीं रहा कि कितना समय बीत गया।

दो बजे परमहंसजी कुटिया से बाहर आये। प्रसाद पाने के अनन्तर उन्होंने स्वयं कहा—'साधना में कोई कठिनाई नहीं है। यह मार्ग तभी तक बीहड़ मालूम होता है, जब तक उसमें पैर नहीं रखा जाता। इस पर चल दो, फिर तो तुम्हारी सब कठिनाइयाँ अपने आप हल हो जायेंगी। संसारी पुरुष जिसे कठिनाई समझते हैं, वह तो साधकों के वरदान हैं। कठिनाई में ही उनकी आत्म-शक्ति और आत्म-विश्वास का विकास होता है। जिसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने साध्य को प्राप्त करके ही रहूँगा, भला ऐसी कौन-सी कठिनाई है, जो उसे अपने मार्ग से विचलित कर सके ? कठिनाई भी एक साधना है, जो साधकों को नीचे से ऊपर की ओर ले जाती है। जिसके जीवन में कठिनाई नहीं आयी, वह जीवन के मार्ग में कुछ आगे भी बढ़ा है, इसका क्या प्रमाण है' ?

और भी बहुत सी बातें हुईं, उनका मेरे चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैंने निश्चय किया कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, कठिनाइयों की चिन्ता किये बिना मैं आज ही से साधना में लग जाऊँगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ, मानो परमहंस जी के शरीर से—उनके नेत्रों से एक दिव्य शक्ति निकल कर मेरे भीतर प्रवेश कर रही है और मुझमें एक अद्भुत उत्साह की स्फूर्ति हो रही है। मैं उनके सामने बैठा-बैठा ही एकाग्र हो गया। मेरे चित्त में स्थिरता और शान्ति का उदय हुआ। मैं जान सका कि अब मेरी साधना में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।

घर लौटने पर मैंने परमहंस जी के उपदेशानुसार जप करना प्रारम्भ कर दिया। मैं स्थिर आसन से बैठकर अपनी पूरी शक्ति लगाकर नाम का उच्चारण करता, परन्तु ओठ मेरे हिलते न थे। मैं जप करता कृष्ण कृष्ण, परन्तु यह क्रिया प्राणों की शक्ति से ही सम्पन्न होती। पूरा मन जप में ही लगा रहता। रसनेन्द्रिय स्वाद भी लेतीं। पहले कुछ दिनों तक तो यदि कभी मन असावधान हो जाता तो जप ऊपर ही ऊपर होने लगता, परन्तु कुछ ही क्षणों में यह मालूम हो जाता कि बिना शक्ति लगाये जप हो रहा है। उसका मेरे शरीर और अन्तःकरण पर कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ रहा है। मैं तुरन्त सजग हो जाता और फिर बलपूर्वक नाम का उच्चारण करने लगता। मुझे प्राणों की ओर ध्यान नहीं रखना पड़ता था। मैं तो केवल बल की ओर ही ध्यान रखता था, परन्तु प्राणों की गति स्वयं ही नियमित और नामानुवर्तिनी हो जाती थी। नाम के उच्चारण के समय क का कम्पन कण्ठ में और ऋ ष ण का मूर्धा में होता था, इससे अपने आप ही प्राणों की गति मूर्धा की ओर हो गयी। अब तो जप करते समय मुझे इसका भी स्मरण नहीं रहता था कि प्राण वायु चल रही है अथवा नहीं ! मेरा मन सहज रूप से एकाग्र होने लगा।

जब मेरा मन एकाग्र हो जाता, अर्थात् किसी तरफ जाना छोड़कर जप में ही पूरी तरह से लग जाता तब ऐसा मालूम होता कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर जितना बड़ा ही एक ज्योति पुञ्ज हूँ। केवल घनप्रकाश, जिसकी आकृति मेरे शरीर जैसी ही थी, मेरे मन के सामने रहता था। यदि कभी उससे बाहर दृष्टि जाती तो यह प्रकाश-शरीर भी एक हल्के प्रकाश से घिरा हुआ दीखता।

तात्पर्य यह कि मेरा मन किसी पार्थिव अथवा जलीय पदार्थ को देखता ही न था, केवल तेज का अनुभव करता था। इस तेजोमय शरीर के अन्दर कृष्ण कृष्ण का उच्चारण होता रहता और ऐसा मालूम होता कि ज्योति की धारा ऊर्ध्वगामिनी हो रही है। यह मेरी भावना न थी, क्योंकि मैं इस प्रकार की भावनाओं को भूल कर केवल जप करना चाहता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह मन्त्रवर्णों के संघर्ष का ही फल था।

यह प्रकाश की धारा ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होकर मस्तक में केन्द्रित होने लगी। अवश्य ही कई महीनों के अभ्यास के पश्चात् ऐसा मालूम होने लगा था। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि यदि सहस्र-सहस्र सूर्य इकट्ठे कर दिये जाँय, तो भी इस मस्तक-स्थित प्रकाश की तुलना में नहीं आ सकते, परन्तु उस प्रकाश के केन्द्र में भी कुछ क्रिया होती सी दिखाई पड़ती और पूरी शक्ति से कृष्ण का पूर्ववत् जप होता रहता। अब यह इच्छा नहीं होती थी कि जगत के किसी आवश्यक कार्य के लिये भी मैं अपनी आँखें खोलूँ। परन्तु जब कभी मैं आँख खोलता था, तो बाहर की विभिन्नताएँ दीख भी पड़तीं थीं, तो रह-रहकर उनके भीतर प्रकाश की एक रेखा चमक जाती थी। प्रायः उस समय भी बिना किसी चेष्टा के मेरे भीतर जप होता रहता था और कभी-कभी तो बाहर की वस्तुओं में भी जप होता हुआ दीखता था, मानों पृथ्वी का एक-एक कण कृष्ण कृष्ण कह रहा हो।

थोड़े ही दिनों के अभ्यास से ऐसा मालूम होने लगा कि मस्तक में दीख पड़ने वाला प्रकाश मानों चैतन्य हो गया है। सूर्य के समान उस प्रकाश में, जो चन्द्रमा से भी शीतल था, एक नीलोज्ज्वल ज्योति आती और चमक कर छिप जाती। कभी मुकुट दीख जाता, कभी पीताम्बर, कभी चरण-कमलों की नख-ज्योति इस प्रकार चमक जाती कि उसके सामने महान प्रकाश भी निष्प्रभ हो जाता। ऐसा लगता, मानो घन अन्धकार में बिजली चमक गई हो। अब मेरा ध्यान प्रकाश की ओर नहीं जाता, वह तो रूखा मालूम होता। मैं सम्पूर्ण अन्तःकरण से केवल उस नीलोज्ज्वल प्रकाश की ही बाट देखता रहता, मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उसके दर्शन के लिये उत्सुक, व्याकुल, और आतुर रहा करता था। एक क्षण भी युग सा मालूम पड़ता। परन्तु जिस समय वेदना असह्य हो जाती, उस समय वह ज्योति अवश्य ही एक बार नाच जाती थी। इस अनुभूति के समय भी कृष्ण-कृष्ण की धारा कभी बन्द नहीं होती थी।

अब मेरे ध्यान का दूसरा ही रूप हो गया था। जब मैं एकाग्र हो जाता, तो इस शरीर की तो स्मृति नहीं रहती थी, परन्तु एक दूसरा शरीर, जिसकी आकृति इससे मिलती-जुलती थी, किन्तु इन पञ्चभौतिक तत्त्वों से जिसकी सङ्घटना नहीं हुई थी, जो ज्योतिर्मय और दिव्य था, प्रकट हो जाता। यह प्रकट हुआ है यह स्मृति भी नहीं रहती, बल्कि मैं यही हूँ, ऐसा अनुभव होता। उस शरीर से भी कृष्ण कृष्ण का जप होता रहता। मेरे उस हृदय में भी श्रीकृष्ण के लिये छटपटी थी, मेरी आँखें तरसतीं रहती थीं उन्हें देखने के लिये। मेरी बाँहें फैली ही रहती थीं उनके आलिंगन के लिये। यदि मेरे रोम-रोम का कोई विश्लेषण कर पाता, तो देखता कि वे श्रीकृष्ण के संस्पर्श की अभिलाषा से ही गठित हुए

हूँ, मेरे रग-रग में एक ही बिजली दौड़ती रहती कि मैं श्रीकृष्ण के चरण-कमलों की अमृत धारा से सराबोर हो जाऊँ।

यह बात नहीं कि उस समय मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन होते ही नहीं, होते थे, और बार-बार होते थे, कभी-कभी तो प्रत्येक क्षण के पश्चात् होते थे, परन्तु उससे मुझे सन्तोष नहीं था। वह एक क्षण का विलम्ब मेरे लिये तो कल्प से भी बड़ा था। वे आते, मैं उन्हें भर आँख देख भी नहीं पाता, वे चले जाते, मैं उनको पहचानने के लिये हाथों में माला लेकर खड़ा होता और वे लापता। परन्तु यह बात बहुत दिनों तक न रही। वे आते हँसते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए। आकर कभी मेरे सिर पर हाथ रख देते और कभी प्रेम से मुझे चपत लगा देते, मेरा रोम-रोम खिल उठता। आनन्द के आँसू मुझे तर कर देते। मैं उनके चरणों का स्पर्श करता, उन्हें माला पहनाता, अपने हाथों से उन्हें सुन्दर-सुन्दर फल खिलाता, उनके काले-काले घुँघराले बालों में फूल गूँथ देता और हाथ में आरती लेकर उनके सामने नाचते-नाचते मस्त हो जाता, तन-बदन की सुधि नहीं रहती। जब मैं गिर जाता तो अपने को उनकी गोद में पाता। वे मुझे जगाते, दुलारते, पुचकारते, प्रेम की बातें करते और क्या नहीं करते? मैं उनका था, वे मेरे थे। परन्तु उस समय भी जब मेरी चेतना शरीरोन्मुख होती, तो मैं देखता कि मेरे रोम-रोम में "कृष्ण-कृष्ण" की ध्वनि गूँज रही है। सम्पूर्ण वायु-मण्डल और आकाश का कोना-कोना उस पवित्र गुंजन से प्रतिध्वनित हो रहा है। एक अनिवर्चनीय रस प्रत्येक वस्तु के अन्तराल से अबाध गति से झर रहा है। स्थूल दृष्टि से यह सब मेरे ध्यान की स्थिति थी। परन्तु उस समय मेरे लिये इसके अतिरिक्त दूसरी कोई स्थूलता रहती नहीं थी। स्थूल था तो वही, सूक्ष्म था तो वही। कम से कम मेरे चित्त में ऐसी ही बात थी। भगवान् का अमृतमय संस्पर्श प्राप्त होता रहे तो स्थूल और सूक्ष्म का प्रश्न ही कहाँ से उठे? जो हृदय में भगवान् के हृदय का रस नहीं प्राप्त कर सकते, वे ही प्राय: शरीर से मिलने के लिये जबानी व्याकुलता प्रकट किया करते हैं। जो हृदय में उस रस की अनुभूति से निहाल होते रहते हैं, वे उसको छोड़कर बाहर आयेंगे ही क्यों, जिससे उन्हें बाहर की चिन्ता करनी पड़े। मैं उस समय अपनी इस स्थिति में रस का अनुभव करता था, उसी में रहना चाहता था। जिस स्थिति या जिस स्थूल शरीर में आने पर मैं उससे वंचित हो जाता, उसमें आने की मैं इच्छा ही क्यों करता? लोगों की प्रेरणा से यदि मैं स्थूल व्यवहार में आता तो क्षण-क्षण अन्तर्जगत का आकर्षण मुझे वहीं जाने के लिये खींचता रहता। बाहर का काम समाप्त होते ही मैं वहाँ पहुँच जाता।

एक दिन मैं गङ्गा-स्नान करके लौट रहा था, रास्ते में पलाश के विशाल जङ्गल को देखकर इच्छा हुई कि वहाँ जाऊँ। मैं एक छोटे-से वृक्ष की मनोहर छाया में बैठ गया। जाड़े का दिन था। उतने सबेरे वहाँ कौन आता? एकान्त इतना था कि वायु-मण्डल की सन-सन आवाज आ रही थी। मैंने स्वस्तिकासन से बैठकर हाथों को गोद में रखा और आँखें बन्द करके 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि पर तनिक जोर लगाया। परन्तु यह क्या? पलकें बन्द रहना नहीं चाहतीं। एक शक्तिमान् प्रकाश पलकों की दीवार लाँघ कर आँखों के तारों में घुसा जा रहा था और मैं बल लगाने पर भी आँखों को बन्द करने में असमर्थ

था। आँखें खुलीं तो देखा—न वहाँ जङ्गल है, न वह वृक्ष है, जिसके नीचे मैं बैठा था और जिसकी स्मृति अभी ताजी थी। चारों ओर एक घना प्रकाश था और उसके बीच में मैं ज्यों का त्यों स्वस्तिकासन से बैठा हुआ था। मैंने सोचा—शायद यह मेरे मन की ही लीला हो। मैंने फिर आँखें बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु मेरी पलकें टस से मस नहीं हुईं। विवश होकर मैंने सामने देखा—पृथ्वी से करीब एक हाथ ऊपर, एक त्रिभुवन सुन्दर बालक मुस्करा रहा है। शरीर गौर-वर्ण था, फूलों की ही कछौटी थी, फूलों का ही मुकुट, हाथों और चरणों में भी फूलों के ही दिव्य आभूषण थे। साथ ही मुकुट पर मयूर-पिच्छ था, और दोनों हाथों में बाँसुरी थी, जो अधरों से लगी हुई थी, और जिसकी सुरीली आवाज मेरे प्राणों में प्रवेश कर रही थी।' देखकर मैं चकित हो गया। बाँसुरी और मयूर-पिच्छ से स्पष्ट हो रहा था कि ये श्रीकृष्ण हैं। मन ने कहा—ये तो श्यामसुन्दर हैं, ये गौर सुन्दर कहाँ से? मैंने उनके चरणों में साष्टाङ्ग लोट जाना चाहा, परन्तु मेरा शरीर जड़ हो गया था, वह हिल तक नहीं सका। मैंने बोलकर अपने मन का भाव उन पर प्रकट करना चाहा, परन्तु मुँह खुला ही नहीं। मैंने हाथ जोड़ने की चेष्टा की, परन्तु हाथ अपने स्थान से उठे नहीं। हृदय आनन्दित था, शरीर रोमांचित था, आँखों में आँसू थे। मैं केवल देख रहा था उनको, और वे मुस्कराते हुए, बांसुरी बजाते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर नाचते हुए, ऊपर ही ऊपर कभी दायें, कभी बायें और कभी सामने आकर ठिठक जाते थे। मैं केवल देख रहा था। इस प्रकार न जाने कितना समय बीत गया?

उन्होंने अपना मौन तोड़ा, मेरे कानों में मानो अमृत की धारा प्रवाहित होने लगी। वे बोले—मैं गौर भी हूँ, श्याम भी हूँ। मैं अपनी लाड़िली का ध्यान करता रहता हूँ न? तुम मुझे स्पर्श करना चाहते हो—केवल इस समय, केवल इस रूप के साथ। यह सम्पूर्ण जगत, जिसमें तुम हो, जिसे तुम देखते हो, यह मेरी लीला-भूमि है। इसके एक-एक कण में मेरी रास-लीला हो रही है और यह सब मेरा और मेरी प्रिया का ही रूप है, तुम इन्हें स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण के रूप में देखते हो, यह तुम्हारा दृष्टि-दोष है। तुम पूर्व को पश्चिम क्यों समझ रहे हो? तुम मुझको जगत क्यों समझ रहे हो? यह सब मेरे युगल-रूप की क्रीड़ा है। जिसे जगत के लोग उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट रूप में देखते हैं, उसके भीतर उसके गुह्यतम प्रदेश में, जहाँ उनकी आँखें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ मेरी अनादि और अनन्त रसमयी, मधुमयी, हास्यमयी, एक-रस रास-लीला हो रही है—भगवान् चुप हो गये। मेरी आँखें जिधर जाती थीं, युगल सरकार और उनको घेर कर नाचती हुई सखियाँ ही दीखती थीं। अपना शरीर, जगत, एक-एक संकल्प और सम्पूर्ण वृत्तियाँ उसी लीला से परिपूर्ण हो रही थीं। न जाने कितनी देर तक यही लीला देखता रहा। अन्त में मैंने देखा—युगल सरकार मेरे सामने खड़े हैं, और सखियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। जब मैं उनके चरणों का स्पर्श करने के लिये झुका, तो स्पर्श करते न करते देखा कि वे वहाँ नहीं हैं और मैं उसी जङ्गल में, उसी वृक्ष के नीचे बैठा हूँ और मेरे रोम-रोम से 'कृष्ण-कृष्ण' की गम्भीर ध्वनि निकल रही है। जब मेरी आँखों ने चकित होकर कुछ दूर तक देखा तो सामने से गेरुए वस्त्र से अपना शरीर ढँके हुए, हाथ में कमण्डलु लिये परमहंसजी आ रहे थे।

"भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोक स्वरूप, नित्य-शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं। ये चराचर गुरु, भगवान् श्रीहरि तीनों लोकों को धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं।"

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्

श्री धनंजय

भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। उनके परमात्मत्त्व की आराधना युग-युगों से तप, साधना, मन्त्र और वाणी के द्वारा भारत की धरती पर होती चली आ रही है। श्रीकृष्ण-आराधना ने भक्ति, प्रेम, सख्य, दैन्य, माधुर्य, श्रृङ्गार आदि विभिन्न स्रोतों में फूट कर, भारत की धरती के प्रत्येक रोम-छिद्र को, 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे' के स्वरों से गुंजायमान कर दिया है। साधारण जन से लेकर बड़े-बड़े मनीषियों के प्राणों से भी यही एक स्वर निकलता है—'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।' आज तक विश्व के रङ्गमंच पर ईश्वरी शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में जितने महान् पुरुष प्रकट हुए हैं, उनमें किसी की भी भगवत्ता उनके जीवन काल में उतनी प्रतिष्ठित नहीं हुई, जितनी श्रीकृष्ण भगवान् की, उनके जीवन-काल में हो सकी है। इसका एक मात्र कारण यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वरी शक्तियों के प्रतिनिधि नहीं, वरन् वे स्वयं पूर्ण ब्रह्म परमात्मा थे।

महाभारत के विभिन्न पात्रों को भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन-काल में ही उनकी पूर्ण भगवत्ता के चित्रों को देखने और उसके अनुभव तथा हृदयङ्गम का अपूर्व पवित्र सुयोग प्राप्त हुआ था। उन्होंने समय-समय पर श्रीकृष्ण भगवान् की अलौकिकताओं और उनके पूर्ण-ब्रह्मत्त्व की आराधना-अर्चना में अपने भावों के जो पुष्प बिखेरे हैं, वे आज भी महाभारत के पृष्ठों को अपने सौरभ से सौरभित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन भाव-पुष्पों पर जब दृष्टि पड़ती है, तो यही लगता है, मानो महाभारत के वे पात्र भारत की अनन्त शक्तिशालिनी जनता की ओर से ही, उस अखिल ब्रह्माण्ड के नियामक जगदीश्वर के चरणों की अभ्यर्थना कर रहे हैं, जिसने विश्व के प्राणियों पर महती कृपा करके भारत की गोद में जन्म धारण किया था।

महाभारत के सभा-पर्व की बात है। पाण्डवों ने दिग्विजय के उपलक्ष्य में राजसूय-यज्ञ की रचना की थी। प्रश्न उपस्थित हुआ कि यज्ञ में अग्र-पूजा-ग्रहण का अधिकारी कौन

है ? पाण्डवों की ओर से भगवान् श्रीकृष्ण का नाम प्रस्तुत हुआ, पर शिशुपाल ने विरोध किया। भीष्म पितामह ने, अपने भाव-कुसुम श्रीकृष्ण की अभ्यर्थना में बिखेर दिये। यह प्रथम अवसर था, जब भीष्म पितामह ने उनकी भगवत्ता के रहस्य का उद्घाटन करके सम्पूर्ण भारत की आँखें खोल दी थीं—

"भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत में सबसे बढ़कर हैं। वे ही परम पूजनीय हैं। महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिए ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, वे तो तीनों लोकों के भी पूजनीय हैं। यह सम्पूर्ण जगत वृष्णि-कुल-भूषण भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है।

दान, दक्षता, शास्त्र-ज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्ण में नित्य विद्यमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हीं के लिए प्रकट हुआ है। ये ही अव्यक्त-प्रकृति, सनातन-कर्त्ता तथा सम्पूर्ण भूतों से परे हैं, अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्‌भिज—ये चार प्रकार के प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्ण में ही प्रतिष्ठित हैं। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा—सब इन्हीं में स्थित हैं। जैसे वेदों में अग्निहोत्र-कर्म, छन्दों में गायत्री, मनुष्यों में राजा, नदियों में समुद्र, नक्षत्रों में चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थों में सूर्य, पर्वतों में मेरु और पक्षियों में गरुड़ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार देव-लोक सहित सम्पूर्ण लोकों में ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये जितने भी जगत के आश्रय हैं, उन सब में भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं।"

भीष्म पर्व में भीष्म पितामह ने भगवान श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य और उनकी भगवत्ता का चित्र, दुर्योधन के सामने खींचते हुए जो भाव-पुष्प बिखेरे हैं, वे श्लाघनीय ही नहीं, परम श्लाघनीय हैं। पितामह के उन भाव-पुष्पों में, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ही ध्वनि गुंजित हो रही है—"सम्पूर्ण जगत के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्यों के लिए आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं? भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्व लोक स्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं। ये चराचर गुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकों को धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं, और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं। ये श्रीहरि सर्व स्वरूप और राग से रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है, और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।

ये सम्पूर्ण देवताओं के भी देवता हैं। कमल-नयन श्रीकृष्ण से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही सब के आत्म-स्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं। जगत-स्रष्टा प्रजापति को भी इन्होंने ही उत्पन्न किया है। इन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्ण ने पहले सम्पूर्ण भूतों के अग्रज संकर्षण को प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायण का प्रादुर्भाव हुआ। नारायण की नाभि से कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति के

स्थान-भूत उस कमल से पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजी से ये सारी प्रजायें उत्पन्न हुईं।"

'अनुशासन पर्व' में शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने भगवान् वासुदेव की परम श्लाघनीयता पर अपने अन्तर की सम्पूर्ण मानवी श्रद्धा, भक्ति, और जागृत चेतना उँडेल कर रख दी है— "भगवान् श्रीकृष्ण अप्रमेय हैं। श्रीकृष्ण ने ही इस पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग की सृष्टि की है। इन्हीं के शरीर से पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ है। यही भयंकर बल वाले वाराह के रूप में प्रकट हुए थे। इन्हीं पुराण-पुरुष ने पर्वतों और दिशाओं को उत्पन्न किया है। अन्तरिक्ष, स्वर्ग, चारों दिशायें तथा चारों कोण—ये सब भगवान् श्रीकृष्ण से नीचे हैं। इन्हीं से सृष्टि की परम्परा प्रचलित हुई है। इन्होंने ही इस प्राचीन विश्व का निर्माण किया है। ये भूत भावन प्रभु ही सब कुछ हैं। भूत और भविष्य, इनके ही स्वरूप हैं। ये ही इस सम्पूर्ण जगत के त्राता हैं। जब धर्म का ह्रास होने लगता है, तब ये शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रीकृष्ण देवताओं तथा मनुष्यों के कुलों में अवतार लेकर स्वयं धर्म में स्थित हो, उसका आचरण करते हुए, उसकी स्थापना तथा पर और अपर लोकों की रक्षा करते हैं।"

मार्कण्डेय मुनि परम आत्म-द्रष्टा थे। वे लोक-लोकों के ज्ञाता और 'अज्ञेय' के भी विज्ञाता थे। 'वन पर्व' में उन्होंने भगवान् वासुदेव की भगवत्ता का चित्र, धर्मराज युधिष्ठिर के समक्ष खींचकर, स्वयं युधिष्ठिर को भी विस्मय में डाल दिया था। मार्कण्डेय मुनि का वह दिव्य घोष आज भी महाभारत के पृष्ठों में दिव्य स्वर बन कर गूँज रहा है—"पुरातन प्रलय के समय मुझे जिन कमल-दल लोचन भगवान् बालमुकुन्द का दर्शन हुआ था, ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं। इन्हीं के वरदान से मुझे पूर्व जन्म की स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घ कालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हीं की कृपा का प्रसाद है। ये वृष्णि-कुल-भूषण, महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी, अचिन्त्य स्वरूप, पुराण पुरुष श्रीहरि हैं, जो पहले बाल-रूप में मुझे दिखाई दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँति की लीलाएँ करते हुए से दीख रहे हैं। श्रीवत्स-चिह्न जिनके वक्षःस्थल की शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करने वाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियों के भी पति हैं।"

उद्योग-पर्व में धृतराष्ट्र भगवान् वासुदेव की भगवत्ता में विभोर होकर ही दुर्योधन के हृदय से अहंकार-जनित मलिनता को मिटाने में संलग्न है—"ओ मूढ़, इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बल-पूर्वक अपने वश में नहीं कर सकते, उन्हीं को तू बन्दी बनाना चाहता है। तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमा को पकड़ना चाहता हो। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्राम-भूमि में जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्ण को तू नहीं जानता! जैसे वायु को हाथ से पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमा को हाथ से छूना कठिन है और पृथ्वी को सिर पर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण को बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है।"

उद्योग-पर्व में ही विदुरजी ने श्रीकृष्ण भगवान् की परम आराधनीयता में निमग्न होकर दुर्योधन के कलुष पर प्रहार किया है। विदुर के शब्द-शब्द में, उनकी विभोर-आत्मा

और प्राणोंका ही स्वर है—"इन्होंने ही एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था। ये ही सबके कर्त्ता हैं, इनका कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है। सबके पुरुषार्थ के कारण भी यही हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं। अपनी महिमा से कभी च्युत न होन वाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है। तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते। ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प के समान भयानक हैं। ये सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं। अनायास ही महान् पराक्रम करने वाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियों सहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे पतङ्ग आगमें पड़कर नष्ट हो जाता है।"

'उद्योग-पर्व' में ही संजयकी वाणी भी भगवान् श्रीकृष्णकी परम भगवत्ता और आराधनीयतामें विभोर हो उठी है—"श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्प मात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं, परन्तु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता। जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सान्त्वना है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। समस्त प्राणियोंके आत्मा, पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग-लोक का संचालन करते हैं। एक मात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं।"

'वन-पर्व' में भगवान् वासुदेव की परम भगवत्ताके सम्बन्ध में देवाधिदेव शिवजीके वचन परम श्लाघनीय हैं—"भगवान् विष्णु ही दुष्टों का दमन और धर्म का संरक्षण करने के लिए, मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं, उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं। वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य-स्वरूप, सर्व-समर्थ और विश्व-वन्दित हैं। विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान् की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रों का वर्णन करते हैं। उन्हींको अपराजित, शङ्ख, चक्र, गदाधारी, पीत-पटाम्बर भूषित, श्रीवत्सधारी भगवान श्रीकृष्ण कहा गया है। अस्त्र-विद्याके विद्वानों में श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित हैं।"

महाभारतके अन्यान्य पात्रों ने भी, जिनमें द्रौपदी, अर्जुन, युधिष्ठिर और भीम आदि का नाम उल्लेखनीय है, भगवान् वासुदेवकी परम भगवत्ता और उनकी आराधनीयता का उनके जीवन-कालमें ही अनुभव किया था। महाभारतके पात्रोंके अतिरिक्त परम-योगियों, ऋषियों और मुनियोंने भी अपनी दिव्य दृष्टि से यह जान लिया था कि ये श्रीकृष्ण वही वासुदेव भगवान् हैं, जो लोक-लोकोंके नियामक और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके रचयिता हैं। महाभारतके युद्ध में अपने विराट् स्वरूपको प्रकट करके भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही अपनी परम भगवत्ताका उद्घोष कर दिया है। 'गीता' में उनका स्वर—उनकी वाणी अनन्त पुरुष का ही स्वर और वाणी है। गीताके शब्द-शब्द में भगवान् श्रीकृष्णकी परम आराधनीयताका ही स्वर गुंजायमान है। गीता कहती है—भगवान् श्रीकृष्ण ही परम-आराध्य हैं। मनुष्यके पास जो कुछ है, उसे चाहिए कि वह उन्हींको समर्पित करके सर्व प्रकार से सन्तुष्ट हो जाय।"

यही सुख का मार्ग भी है—कल्याण का पथ भी है।

"श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाला जीव। जन्म-मरणके चक्र से छूट कर ईश्वरीय कैवल्य-पदको प्राप्त करता है, जहाँ से पुनः उसका पतन नहीं होता, श्रीकृष्ण-भक्ति का अधिकार पापी तथा पुण्यात्मा दोनोंको समान रूप से प्राप्त है। श्रीकृष्ण नामसे पाप धुल जाते हैं, आत्मा शुद्ध हो जाती है।"

सर्वज्ञ श्रीकृष्ण की आराधना

श्री महन्त तपस्वीन्द्र शास्त्री तलेगाँवकर

भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके महत्त्वको समझनेके लिये पहले यह जान लेना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण कौन थे और उनकी आराधना क्यों अथवा कैसे करनी चाहिये ? पौराणिक कथन के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेव-देवकीके पुत्र थे, जिनका जन्म द्वापर युगमें मथुरा नगरीके कारागारमें हुआ था। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'— इस प्रचलित मतका प्रतिपादन गीता-दर्शन में नहीं हुआ। गीतामें चार तत्व अनादि, स्वतः सिद्ध माने हैं। उदाहरणार्थः—

'प्रकृतिं पुरुषंचैव विद्ध्यानदी उभावपि।'

अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष ये दोनों तत्व अनादि हैं। प्रकृति के दो रूप हैं—जड़ और चेतन। इस प्रकार अनादि तत्वों की संख्या तीन बन जाती है। इसके अतिरिक्त गीता में चौथा अनादि तत्व ईश्वर को माना है। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'—अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न एक और उत्तम पुरुष भी है, जिसे परमात्मा कहते हैं।

जड़, प्रकृति, भूमि आदि आठ महद्भूतों का विस्तार है। देवता तत्व को, जो ईश्वर की चेतन शक्तियाँ हैं, चेतन-प्रकृति कहा गया है। पुरुष शब्द से जीवात्मा का उल्लेख किया गया है और परम-पुरुष से परमात्मा का निर्देश प्राप्त होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन चार तत्वों में से श्रीकृष्ण का सम्बन्ध किस तत्व से है ? प्रकृति से, पुरुष से अथवा परमात्मा से ?

भागवत में महर्षि वेदव्यासने भगवान् श्रीकृष्णको ईश्वरीय अवतार माना है— 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' दूसरे ग्रन्थोंमें भी श्रीकृष्णको सर्वश्रेष्ठ सोलह-कला-सम्पूर्ण अवतार माना है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्ध में अर्जुन ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।

अर्थात्—हे श्रीकृष्ण ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगतके परम-आश्रय और जाननेवाले तथा योग्य और परमधाम हैं । हे अनन्त-रूप, आपसे यह जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है। हे भगवन् ! आप ही जानने योग्य परम-अक्षर हैं, अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं और आपही इस जगत्के परम-आश्रय और अनादि-धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा मत है ।

अर्जुन के अतिरिक्त संजय ने भी अपना अभिमत इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'यत्र योगेश्वरः कृष्णः' अर्थात् योगेश्वर कृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने विषय में कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

—हे अर्जुन, इन चारों अनादि तत्वोंमें मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ । मुझसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं। जैसे सूतमें मणि पिरोए रहते हैं, वैसे ही अन्य तीनों तत्व मेरे आश्रित हैं। सारांश यह कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, वह प्रकृति अथवा पुरुष नहीं ।

एक बार भगवान् श्रीकृष्णसे अर्जुनने पूछा, 'भगवन् ! आप सगुण-साकार ईश्वर हैं और आपका मूल रूप निर्गुण-निराकार है। कई लोग आपके साकार रूपकी आराधना करते हैं और कई निराकारकी । आपके मत में दोनों में यथार्थवेत्ता कौन है ?'

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—साकार तथा निराकार स्वरूपकी आराधना करने वालोंकी गति समान होती है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि साकार-स्वरूप की भक्ति करना सरल है, परन्तु निराकार-स्वरूपकी उपासनामें अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं; क्योंकि वह दिखाई नहीं देता ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः

अर्थात् शरीरधारी साकार ईश्वरको भी पहिचाना नहीं जा सकता; क्योंकि वह अपनी योगमायासे समाच्छन्न रहता है। ईश्वर-स्वरूपको वही पहिचान सकता है, जिस पर उसकी अगाध कृपा होती है। ईश्वरीय अवतारका जन्म तथा कर्म अलौकिक होते हैं। ईश्वरीय अवतारकी पहिचान केवल ज्ञानसे ही की जा सकती है। ज्ञान में ही यथार्थता का परिज्ञान करवाने की शक्ति सन्निहित होती है, ज्ञान का लक्षण है—'जो चीज जैसी हो, उसको वैसे ही जानना।' रस्सीमें सर्पबुद्धि का होना ज्ञान नहीं, वह अन्यथाज्ञान है। इसी प्रकार प्रकृति अथवा पुरुष आदि को ईश्वर मान लेना, अन्यथाज्ञान है। शास्त्रों ने मोचक तो केवल ज्ञान को ही माना है। ज्ञानपूर्वक आचरणही जीवों को मुक्ति दिलवाता है।

ईश्वरीय आराधनामें ज्ञान का प्रमुख स्थान है। आराधना का अर्थ है भक्ति। भक्ति प्रेमकी उत्तरावस्थाको कहा गया है। ईश्वर प्रेमस्वरूप है। वह प्रेम से ही पाया जा सकता है। कहा भी है—'भक्तिप्रियो माधवः' ज्ञान-प्राप्तिके लिये मनुष्य को श्रद्धावान् तथा जितेन्द्रिय बनकर बड़ी नम्रता से गुरुजनोंकी सेवामें रहना चाहिये। गुरुजन प्रसन्न होने पर ज्ञानोपदेश करते हैं।

शास्त्रों में आराधना के दो प्रकार माने हैं—सकाम तथा निष्काम। सकाम भक्त वे हैं, जो किसी कामनाकी पूर्ति के लिये ईश्वरकी आराधना करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने चार प्रकारके भक्तों का उल्लेख किया है—आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी तथा ज्ञानी। प्रथमोक्त तीनों भक्त सकाम हैं। आर्त वे भक्त हैं, जो सांसारिक सकटोंसे ऊबकर उनसे छुटकारा पाने के लिये ईश्वरकी आराधना करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी सहायता करे। जिज्ञासु भक्त वे होते हैं, जो ईश्वरकी यथार्थताके परिज्ञानकी जिज्ञासा लेकर उसकी भक्ति करते हैं। अर्थार्थी भक्त सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति के लिये ईश्वरकी भक्ति करते हैं। यद्यपि इन तीनों भक्तोंकी श्रीकृष्ण ने 'उदार' कहकर प्रशंसा की है, फिर भी उनके विषय में भगवान् ने कहा है—'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः'—अर्थात्, मनुष्य की कामनाएं कभी पूर्ण नहीं हो सकतीं। वे सतत बढ़ती रहती हैं। परिवर्धित कामनाओंमें उलझकर मनुष्य ज्ञानको गँवा बैठता है। ज्ञानके अभाव में वह अन्यथाज्ञानकी कल्पना करने लगता है और इस प्रकार ईश्वरको छोड़कर अन्य देवताओंकी शरण ग्रहण कर लेता है। इसलिये जहाँ तक हो सके मनुष्यको सकाम-भक्ति से बचना चाहिये।

ज्ञानी चौथा भक्त है, जिसके लिये श्रीकृष्णने आत्मीयता दिखायी है। ईश्वर में उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। वह कभी डाँवाडोल नहीं होता। किसी भी लालचमें फँस कर वह ईश्वरकी आराधनाको नहीं छोड़ता।

सकाम-भक्तिके कारण जो ईश्वर-भक्ति से विमुख होकर देवता-भक्ति करने लगते हैं, उनकी भक्तिका फल निर्देश करते हुये भगवान् ने कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्॥

अर्थात्—देवताभक्ति से ईश्वर प्राप्त नहीं होता। देवताभक्तको उसकी भावना तथा श्रद्धाके अनुसार देवलोक, पितृलोक तथा भूतलोकों की प्राप्ति होती है, जो अनित्य है। ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—अर्थात्, देवभक्त पुण्य के कारण स्वर्गमें जाकर सुख भोगता है, किन्तु पुण्य-क्षय के साथही वह पुनः मृत्युलोक में गिर जाता है।

देवता भक्तिमें अनेक प्रकारकी सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। उसमें विधि का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक माना गया है। उसमें नियम का उल्लंघन करना, आपदा मोल लेना है। इस पर भी देवता को प्रसन्न करना कठिन कार्य है। भक्तको उसके कोप का भाजन बनने का सदा भय बना रहता है, किन्तु ईश्वर भक्तिमें ये समस्याएँ नहीं हैं।

ईश्वर भक्ति की विधि बतलाते हुये भगवान् ने कहा है—'तमेव शरणं गच्छ सर्व-भावेन भारत', अर्थात् जीवात्माओं को सब कामनाओंका परित्याग करके एक ईश्वरकी शरण ग्रहण करनी चाहिये; क्योंकि 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'—अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति अनन्यभक्ति के द्वारा ही हो सकती है। मन एक कालमें किसी एक वस्तु का ही ध्यान तथा चिन्तन कर सकता है। ईश्वर की आराधना के समय आराधक के मान में केवल ईश्वरका ही अस्तित्व होना चाहिये। किसी दूसरे के होने पर अनन्यता की शर्त पूरी नहीं हो सकती। भक्तको चाहिये कि वह सतत ईश्वरका ही कीर्तन करे। उसकी प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय से प्रयत्न में लगा रहे। सदा प्रेम पूरित होकर भगवान् को नमस्कार करे। तथा जीवन भर आराधना नियमपूर्वक करे। उसमें खण्ड न पड़ने दे। ईश्वरकी महिमा तथा श्रेष्ठता को ध्यानमें रखकर भक्त को अनन्य मन से सतत आराधना करनी चाहिये। अनन्यता पर बल देते हुये भगवान् ने कहा है—'मामेकं शरणं व्रज' भक्तको केवल एक ईश्वर की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये। अनन्यता का स्पष्टीकरण करते हुये कहा गया है कि आराधक को केवल ईश्वरमें मन लगाना चाहिये, ईश्वर की ही भक्ति करनी चाहिये, यज्ञादि कर्म ईश्वरार्पण-बुद्धि से करने चाहिये तथा नमस्कार भी एक ईश्वर को ही करना चाहिये, क्योंकि—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अर्थात्—जो आराधक अनन्य चित्तसे ईश्वर का स्मरण तथा भजन करता है, वह अति सरलता से उसे पा लेता है, क्योंकि वह अपना एक श्वास भी व्यर्थ नहीं गँवाता और ईश्वर स्वरूप की प्राप्ति मिल जाने पर कोई भी आत्मा पुनः दुःखालय तथा इस नश्वर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह नित्यमुक्त हो जाती है।

ईश्वर की आराधना राजा तथा रंक दोनों कर सकते हैं, क्योंकि उसमें धन की कोई शर्त नहीं, गीता में कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति,
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रियतात्मनः।

अर्थात्—ईश्वर सिर्फ प्रेम-भावका भूखा है। उसके पास किसी वस्तुकी कमी नहीं, पत्र, पुष्प, फल तथा जल आदि अनायास प्राप्य वस्तुओंमें कोई भी वस्तु प्रेमपूर्वक अर्पण करने पर वह प्रसन्न हो जाता है, इसलिये भक्तको अपने सभी कार्य ईश्वरार्पण करने चाहिये।

श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाला जीव जन्म-मरणके चक्र से छुट कर ईश्वरीय कैवल्य पदको प्राप्त करता है, जहाँ से पुनः उसका पतन नहीं होता। श्रीकृष्ण-भक्तिका अधिकार पापी तथा पुण्यात्मा दोनोंको समान रूप से प्राप्त है, श्रीकृष्ण-नाम से पाप धुल जाते हैं, आत्मा शुद्ध हो जाती है। अतः प्रत्येक पुरुषको श्रीकृष्णकी आराधना से अपना जन्म सफल बनाना चाहिये।

"श्रीहरि किसी का अपमान नहीं करते—किसी का सम्मान नहीं करते। वे अपमान-सम्मान के भावों से परे हैं। वे केवल सत्कर्म में आस्था रखते हैं। उनकेलिये वही श्रेष्ठ है, वही पूजनीय है, जो सत्कर्म करता है, पुनीत आचरण करता है।"

तूलिका भगवान् की—चित्र भक्त का

श्री प्रेमकिशोर

वैकुण्ठ का आनन्दमय धाम ! चतुर्दिक् आनन्द ही आनन्द, चतुर्दिक् शान्ति ही शान्ति। आलोक बरस रहा था, श्री हँस-सी रही थी। श्री नारद प्राणोंकी अंजलिमें श्रद्धा के पराग भरे हुए बढ़े जा रहे थे, वैकुण्ठ-पति भगवान् विष्णु के पास। उनकी अंजलि के पराग रह-रहकर उछल रहे थे—भगवान्के चरण-कमलों पर गिरने के लिये। श्रीनारद, बड़े संयम से उन्हें सँजोए हुए बढ़े जा रहे थे, भगवान् विष्णु के पास—उनके चरण-कमलों के निकट।

सहसा नारदके पैर रुक गये। वे अपने आपही, मनही मन बोल उठे—"अरे, यह तो श्रीहरि ! पर, श्रीहरि आज किस साधना में मग्न हैं ? कौन है ऐसा आकर्षण बिन्दु, जिसने आज श्रीहरिके मस्तकको भी झुका दिया है ?"

नारद ने श्रीहरिको झुक कर प्रणाम किया, पर श्रीहरि अपनी साधना-आराधना में इस भाँति डूबे हुए थे, कि उन्होंने नारदकी ओर दृष्टिपात तक न किया।

नारद विस्मयकी तरङ्गोंमें डूब-से गये। दूसरे दिन श्रीहरि उनके प्रणाम पर विहँस उठते थे—कुसुम के सदृश खिल पड़ते थे, पर आज ! आज क्या हो गया है श्रीहरि को ? कौन है वह आकर्षण बिन्दु,—कौन है वह सौन्दर्य-चित्र, जिसे देखने में आज श्रीहरि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भी भूल गये हैं—अपने प्रिय नारद को भी ?

विस्मित, स्तम्भित नारद ! वे उत्कण्ठा-उत्सुकता पूर्वक 'श्रीहरिकी ओर देखने लगे। नारद पुनः अपने आप ही मन ही मन बोल उठे—अरे, यह तो 'श्रीहरि' किसीका चित्र अंकित कर रहे हैं। उनकी तूलिका बड़ी तन्मयता से रेखाओंके द्वारा 'आकार' को जन्म दे रही है। कौन है वह महाभाग, जिसके चित्रांकन में, रस-सिंधु श्रीहरि भी रस ले रहे हैं।'

श्रीनारद, दवे पाँव कुछ और निकट चले गये। पर 'श्रीहरिको किसी की उपस्थिति का आभास मात्र भी न हुआ। उनकी तूलिका पूर्ववत् बड़ी तन्मयता से, किसीके आकार

की आराधना में लगी रही, और लगी रही। नारदने श्रीहरिकी बगल में, चुपचाप खड़े होकर उस चित्र की ओर देखा—"खड़े-खड़े, धूमिल, मटमैले केश, आँखें धँसी हुई, गाल पिचके हुए, हड्डियाँ उभरी हुईं।" श्रीहरिकी तूलिका, बड़ी तन्मयतासे उसमें दीनता, जर्जरता और कुरूपता के वैभव उँडेल रही थी।

श्रीनारद अपने पूर्वके स्थान पर आकर मन ही मन पुनः बोल उठे—"छिः ऐसा कुत्सित और कुरूप चित्र ! इस चित्र के अंकनमें उनकी इतनी तन्मयता ! उनकी इतनी आत्म-विभोरता !! क्या हो गया है आज श्रीहरि को !"

हठात्, उधर से ही आगमन हुआ श्रीहरि-प्रिया शुभलक्ष्मी का। श्रीनारद का मस्तक अपने आप ही नत हो उठा। साथ ही उन्होंने नम्रतासे प्रश्न किया—"देवि, आज श्रीहरि भगवान् किस कार्य में अधिक व्यस्त हैं ?"

शुभलक्ष्मी ने उत्तर दिया—"आज वे एक चित्र बना रहे हैं।"

श्रीनारदने पुनः प्रश्न किया—"किसका चित्र बना रहे हैं, देवि !"

शुभलक्ष्मीने उत्तर दिया—"अपने भक्तको छोड़कर, वे और किसका चित्र बनायेंगे ?"

श्रीनारदका मन-मानस मथित हो उठा, उनके प्राण झनझनासे उठे। वे एक साथ ही सोच उठे, क्या मुझसे भी बढ़कर "श्रीहरिका कोई अनन्य भक्त है ?" श्रीनारद के मन में अहंकार जाग्रत हो उठा और साथ ही साथ असन्तोष भी—"क्या वही भक्त ! घिनौना, महाकुरूप !" श्रीनारद, हृदय से असन्तोषकी सांसें निकालते हुए चल पड़े—बैकुण्ठधाम से, और पृथ्वी पर गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूमकर अपनी मनोव्यथा को दूर करने का प्रयास करने लगे।

सन्ध्या का समय था। श्रीनारद एक छोटे-से नगर में, बाहर की ओर घूमते-घूमते एक हाट में जा पहुँचे। हाट चर्मकारोंकी थी। चारों ओर चमड़े ही चमड़े। सम्पूर्ण वायु-मण्डल दुर्गन्धसे व्याप्त-सा हो रहा था। श्रीनारद जल्दी-जल्दी पग बढ़ाते हुए, हाटकी सीमासे दूर-सुदूर निकल जाने का यत्न करने लगे।

पर सहसा उनके पैर रुक गये। आँखें केन्द्रित हो गईं एक वृद्ध व्यक्ति पर, जो हाट से बाहर, अपने हीन वैभवोंके साथ, दीनताके महासम्राट् की भाँति, आसीन था—"एक टूटा पात्र, कुछ मलिन औजार, चर्म के कुछ टुकड़े और फटे-पुराने वस्त्र !" वह भी चर्मकार ही था। श्रीनारद नयनोंमें तन्मयता और विस्मय भरकर, उसे देखने लगे—रह-रहकर देखने लगे।

"खड़े-खड़े केश, आँखें धँसी हुईं, पिचके गाल, हड्डियाँ उभरी हुईं"—श्रीनारद अपने ही आप विस्मयके स्वरमें बोल उठे—"अरे, यह तो वही व्यक्ति है, श्रीहरि जिसका चित्र अंकित कर रहे थे—जिसके चित्रके अंकन में उन्होंने उनके विनयावनत प्राण की उपेक्षा की थी। तो क्या एक चर्मकार के लिए, एक महाकुलीन महर्षि का अपमान !"

श्रीनारदका हृदय क्रोध से उत्तप्त हो उठा। उन्होंने श्रीहरिजीको अभिशाप देने के उद्देश्य से अपना दाहिना हस्त ऊपर उठाया।

सहसा कोई बोल उठा—"शीघ्रता न कीजिए नारदजी ! धैर्यसे देखिए, यह चर्मकार श्रीहरि के लिए क्यों आराधनीय है ?"

नारद का उठा हुआ हाथ नीचे आ गया। उन्होंने विस्मयके साथ देखा, वे शुभलक्ष्मी थीं। श्रीनारद उन्हें प्रणाम करते हुए क्रोधके स्वरमें बोल उठे—"देवि, यही तो वह व्यक्ति है, जिसके चित्रांकन में उस दिन श्रीहरि इतने तन्मय हो उठे थे कि उन्होंने मेरा प्रणाम तक न लिया। दे देवि, यह चर्मकार और मैं कुलीन वंशी महर्षि ! क्या यह सच नहीं है देवि, कि श्रीहरि ने मेरा अपमान किया था ?"

"नहीं नारदजी, नहीं—शुभलक्ष्मी ने उत्तर दिया—श्रीहरि किसी का अपमान नहीं करते, किसीका सम्मान नहीं करते। वे अपमान-सम्मानके भावसे परे हैं। वे केवल सत्कर्म में आस्था रखते हैं। उनके लिए वही श्रेष्ठ है, वही पूजनीय है, जो सत्कर्म करता है, पुनीत आचरण करता है। देखिए नारदजी, धैर्य से देखिए, यह चर्मकार श्रीहरिको क्यों प्रिय है—क्यों ?"

श्रीनारद विस्मयान्वित होकर शुभलक्ष्मी की ओर देखने लगे, और देखने लगे, उस दीनताके महामलिन सम्राट्‌की ओर—उस चर्मकारकी ओर।

सूर्य के अवसानके साथ ही साथ वह उठा। उसने अपने सामानकी पोटली बनाई। अपने हाथ-मुँह धोए, फिर जीर्ण-शीर्ण वस्त्रके आसन पर बैठकर, दोनों हाथ जोड़ कर साश्रु नेत्र कहने लगा—हे प्रभो ! जिस परिश्रम और सचाईसे आज मैंने दो पैसे पैदा किये हैं, मुझे सद्‌बुद्धि दो कि मैं कल पुनः उसी परिश्रम और सचाई से दो पैसे पैदा करूँ।"

वह आसनसे उठा और अपनी पोटली लेकर चलता बना। शुभलक्ष्मी ने नारदजी की ओर देखा। नारद का मस्तक नत हो गया। उन्होंने क्षमा-याचना करते हुए कहा—'मुझसे भूल हुई, देवि ! चर्मकारकी प्रार्थना में वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों का सारतत्व है। सचमुच ही वह अपनी प्रार्थनासे—आराधनासे महान् है देवि, अति महान् है !!"

देखो, तुम्हारे पास अनावश्यक वस्तुएँ कितनी हैं ? उनके बिना यदि संसार के बहुत से प्राणी दुःखी हैं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम उन्हें अपने पास रखकर सड़ाओ।

"महाभारतके 'सभा-पर्व' से ज्ञात होता है उस कालके बड़े-बड़े राजाओं, विद्वानों और वृद्धजनोंकी सभामें, जब अग्र-पूजाके लिये सर्वोपरि आसन देनेका प्रश्न उपस्थित हुआ, तब भीष्म-पितामह जैसे वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध महानुभावोंने श्रीकृष्णके नामका ही प्रस्ताव किया था। उसके समर्थन में उन्होंने एक महत्व-पूर्ण भाषण दिया, जिसमें श्रीकृष्णके अलौकिक गुणोंका कथन करते हुए उन्हें अचर्यतम और पुरुषोत्तम बतलाया था।"

श्रीकृष्ण-आराधना की पृष्ठभूमि

श्री प्रभुदयाल मीतल

भारतवासियोंकी यह परम्परागत मान्यता रही है कि जब-जब इस भू-तल पर धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान्‌का अवतार होता है। वे सज्जनों का संरक्षण और दुर्जनोंका दमन कर धर्मकी स्थापना करने के हेतु अवतरित होते हैं। इस बातको श्रीमद्भगवद्गीताके सुप्रसिद्ध श्लोकों में स्पष्टतया कहा गया है।[१] ऐसी स्थिति अनेक युगोंमें अनेक बार हो चुकी है। अतः भगवान् के भी अनेक अवतार हुए हैं।

द्वापर युग के अन्त में भी इस भू-तल पर ऐसी ही विषम परिस्थिति पैदा हो गई थी। उस समय प्राचीन वैदिक-धर्म विकृत होने लगा था और आध्यात्मिकतामूलक आर्य-संस्कृति ह्रासोन्मुखी हो रही थी। भौतिक सभ्यताकी चरम उन्नति होने, किन्तु धार्मिक प्रवृत्तियोंमें शिथिलता आ जाने से समाज का सन्तुलन बिगड़ गया था। उस कालके समृद्धिशाली और शक्ति-सम्पन्न नरेश मदान्ध होकर नाना प्रकारके अनाचार और अत्याचार करने पर उतारू हो गये थे। उनका लक्ष्य कोई भी बुरे से बुरा कार्यकर अपनी भौतिक शक्ति बढ़ाना था। उसके लिए उन्होंने 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' के सिद्धान्तको अपना लिया था। उसके द्वारा स्वार्थी, पाखण्डी और चाटुकारोंको प्रश्रय मिलता था; किन्तु निःस्वार्थ, सदाचारी और स्पष्ट वक्ताओंको अपमानित होना पड़ता था। उस समयके ज्ञानी और वयोवृद्ध महानुभावों की वाणी कुण्ठित हो गई थी। वे असहाय होकर मूकवत् उस समयकी स्थिति को देखने और उसे सहन करने के लिए विवश हो गये थे!

---

(१) यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

उस कालके तानाशाहोंमें मगध (विहार) के स्वेच्छाचारी सम्राट् जरासन्ध, प्राग्ज्योतिषपुर (असम) के अत्याचारी अधिपति भौमासुर और मथुराके क्रूरशासककंस सर्वोपरि थे। वे तीनों शक्तिशाली दुष्टजन ऐसे तीन बड़े साम्राज्यों के स्वेच्छाचारी अधिपति थे, जहाँ अनीति, अत्याचार और अधर्म का बोलबाला था। जरासंध अपने समयका सबसे प्रबल और प्रतापी नरेश था। वह अनेक छोटे-बड़े राज्योंको हड़प कर एक बड़े साम्राज्य का स्वामी बन गया था। उसने छीने हुए राज्यों के अनेक राजाओं को अपने कारागारमें बन्द कर रखा था और वह जनता पर मनमाने ढङ्ग से शासन करता था। भौमासुर बड़ा ही दुष्ट और प्रजा-पीड़क राजा था। उसने अपने निकटवर्ती अनेक छोटे राजाओंको दवाकर उनका सर्वस्व छीन लिया था और उनकी अगणित कुमारीकन्याओंका उसने वलात् अपहरण किया था। कंस का अत्याचार उन दोनोंसे भी बढ़ा-चढ़ा था। उसने शूरसेन जनपद के परम्परागत जनतांत्रिक शासन के विद्रोह का झण्डा उठाया और अपने समय के अंधक-वृष्णि राज्य संघको तोड़ कर वह जनपदका स्वेच्छाचारी राजा बन गया था। इसके लिए उसने अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी नहीं छोड़ा। अपने वृद्धपिता, आत्मीय बहनोई और अपनी अबला बहिनको कारागार में डाल कर उसने शासनकी सत्ता हथियाई थी। उसके राज्यमें धार्मिक जनों पर तो भीषण अत्याचार होते ही थे, उसके अतिरिक्त वहाँ नारी-पीड़न और बाल-हत्याका भी बड़ा जोर था। उसने अपनी बहिनकी कई सन्तानोंकी स्वयं हत्या की थी। इस प्रकार उसका शासन अनीति, अत्याचार और आतंक से भरपूर था।

उस भीषण परिस्थितिका परिहार करने के लिए उस युग में एक महान् अवतार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जिसकी पूर्ति भगवान् श्रीकृष्णके अवतरणके रूप में हुई थी। उन्होंने सबसे पहिले कंस का संहार किया और फिर जरासन्ध तथा भौमासुर को भी समाप्त कर दिया। उससे कुछ तात्कालिक शांति हुई, किन्तु बाद में शिशुपाल और दुर्योधन जैसे अनाचारी राजाओंने स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ दिया था। श्रीकृष्ण ने शिशुपालको तो सरलता से समाप्त कर दिया ; किन्तु दुर्योधनके दमनके लिए उन्हें महाभारतके युद्ध का आयोजन करना पड़ा था। उससे पहिले उन्होंने दुर्योधन को समझा-बुझा कर उचित मार्ग पर लाने की बड़ी चेष्टा की थी। वे जानते थे, यदि युद्ध छिड़ गया, तो उसका बड़ा भयंकर परिणाम होगा। देश के दुर्भाग्य से दुर्योधनको श्रीकृष्णकी कोई बात अच्छी नहीं लगी और वह युद्ध के लिए तैयार हो गया।

सब लोग जानते हैं कि महाभारतका युद्ध वर्तमानकाल के परमाणु युद्ध की ही भाँति अत्यन्त भीषण और सर्व संहारकारी सिद्ध हुआ था। उसमें दुर्योधन अपने समस्त दुष्ट साथियों और अगणित सेनाके सहित समाप्त हो गया; किन्तु उनके साथ दूसरे पक्ष के जन-धन की भी बड़ी हानि हुई थी। फलतः भारत की तत्कालीन भौतिक समृद्धि का एक प्रकार से सर्वनाश ही हो गया था। किन्तु जैसा कहा गया है, अवतारी महापुरुषों का कार्य केवल दुष्टोंका दमन करना ही नहीं है; बल्कि सज्जनों का संरक्षण और धर्म की स्थापना करना भी है। वस्तुतः उनका मुख्य उद्देश्य वही होता है। श्रीकृष्ण के विध्वंसक

कार्यों के साथ उनकी वे निर्माणकारी प्रवृत्तियाँ भी जुड़ी हुई हैं; जिन्होंने उस कालमें अधर्मके स्थान पर सद्धर्म की स्थापना की थी। फलतः अपने जीवन-कालमें ही वे अवतारी महा-पुरुष मान लिये गये थे, जिसका कारण उनके अलौकिक गुण थे और उनकी अतिशय लोक-प्रियता थी।

श्रीकृष्ण के महान् गुणोंका प्राकट्य और उनकी अपूर्व लोकप्रियता का आरम्भ उनकी बाल्यावस्थामें ही हो गया था। जब वे व्रज की ग्रामीण गोप-बस्ती में रहते थे, तब उनके अद्भुत गुणोंके कारण वहाँ के गोप, गोपी और गोप-बालक उनके पीछे बावले बने फिरते थे। जब वे व्रज से मथुरा चले गये, तब कंस जैसे पराक्रमी राजाका बध करने से उन्हें वहाँ के यादवों ने अपना नेता मान लिया था। मथुरा से द्वारका जाने पर जब उनके राज्य और वैभव का अधिक विस्तार हुआ, तब उनके प्रशंसकों और भक्तोंकी संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। महाभारतके सभापर्व से ज्ञात होता है, उस कालके बड़े-बड़े राजाओं, विद्वानों और वृद्धजनों की सभा में जब अग्रपूजा के लिए सर्वोपरि आसन देनेका प्रश्न उपस्थित हुआ, तब भीष्म पितामह जैसे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध महानुभावने श्रीकृष्ण के नामका ही प्रस्ताव किया था। उसके समर्थनमें उन्होंने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया, जिसमें श्रीकृष्णके अलौकिक गुणोंका कथन करते हुए उन्हें 'अर्च्यतम' और 'पुरुषोत्तम' बतलाया था। उन्होंने कहा, 'वेद, वेदांग विज्ञान और बलमें श्रीकृष्ण से बढ़कर इस लोक में और कौन है? ब्राह्मण की विद्या-बुद्धि और ज्ञान तथा क्षत्रिय के बल-पौरुषका उनमें जैसा समन्वय हुआ है; उसके कारण उन्हींकी अग्रपूजा होनी चाहिए। भीष्म पितामह के अतिरिक्त महामुनि व्यास भी श्रीकृष्णमें पूज्य भाव रखते थे। जब अर्जुन का मोह दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे गीता-उपदेश दिया था, तब तो उनकी गणना अपने कालके सर्वश्रेष्ठ धर्मवेत्ताओं में होने लगी थी।

इस प्रकार महाभारत कालमें जब श्रीकृष्णका आलौकिक महत्व स्थापित हो गया, तब 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' उद्घोष द्वारा उन्हें 'जगद्गुरु' के रूप में वन्दनीय माना जाने लगा और उनके प्रति भगवान् की सी श्रद्धा होने लगी। बाद में श्रीकृष्ण और भगवान् में बिलकुल ही अन्तर नहीं रहा। भागवतमें श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् माना गया है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। उसके पश्चात् भगवान्के रूप में श्रीकृष्णकी जो आराधना प्रचलित हुई, वह महाभारत काल से आधुनिक काल तक निरंतर विद्यमान रही है। यद्यपि इस दीर्घ कालमें इसने उन्नति, अवनति और पुनरुन्नति के अनेक युग देखे हैं, किन्तु इसकी परंपरा कभी विच्छिन्न नहीं हुई।

०॰ ॰०

"महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक व दिव्य रूपकी सृष्टि है। उनका कथन स्वयं उन पर ही चरितार्थ है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

भगवान् श्रीकृष्णकी शाश्वत—काव्यात्मक आराधना

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे एम० ए०, पी० एच० डी०, सा०र०

भगवान् श्रीकृष्णका जीवन, कर्म और चरित्र इतनी विविधताको लिए हुए है कि वह सहज ही राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों और कवियोंके लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया है। उनका पुण्यमय नाम और चरित्र ऋग्वेद से लेकर अधुनातुन काव्य-कृतियों में उपलब्ध होता है। वे ऐतिहासिक महान् पुरुष थे और उन्होंने जीवन-जगत को नाना प्रकार से मार्गदर्शन सुझाया उनके अस्तित्व तथा कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में भले ही मत-मतान्तर, विद्वानों की सम्मतियों में हो, परन्तु हमारा जन-जीवन तो उन्हींसे ओत-प्रोत है। पाश्चात्य जगत् के विद्वानगण यथा-लोसेन, बोरनफ, ग्रियर्सन, कैनेडी, वैंवर प्रभृति ने उनके ऐतिहासिक अस्तित्व पर अपनी आंशकायुक्त उपपत्तियां स्थापित की हैं, परन्तु समग्र भारतीय इतिहास और परम्पराके साक्ष्यके समक्ष, उनकी स्थापनाएँ निर्मूल हो जाती हैं। ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक श्रीकृष्ण नाम के कितने ही महानपुरुषों का उल्लेख आया है। ऋग्वेद (१।१।१६।२३) में विश्वकाय के पिता कृष्ण का नाम आया है। कौषीतरी ब्राह्मण (३०।९) में कृष्ण आंगिरसका नाम आया है। ऐतरेय आरण्यक (२।२।६) में कृष्ण हरितका नाम आया है और छान्दोग्य-उपनिषद् (३।१७।४) में देवकी पुत्र कृष्ण को हम घोर अंगरिसके यहाँ अध्ययन करते पाते हैं।[1] सम्राट चन्द्रगुप्तके राज-दरवार में आने वाले सिल्यूकसके राजदूत मेगास्थनीजने भी श्रीकृष्णको ईश्वर कहा है।[2] यूनानी इतिहासकार प्लिनीने भी कृष्णपुरी का उल्लेख किया है। ब्रह्मपुराण, विष्णु पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, भागवतपुराण, वायुपुराण, देवी भागवत पुराण, अग्निपुराण, लिंगपुराण, जैन हरिवंश पुराण आदि में भगवान् श्रीकृष्णकी जीवन-गाथा निहित है।[3] भगवान् श्रीकृष्णका समय आज से पांच हजार वर्षों से ऊपर मानना

१—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा—'विश्व धर्म दर्शन' चौथा परिच्छेद, वैष्णव मत, पृष्ठ २७९

२—Arrian's Anabasis of Alexander & India,
Translated by E. J. Chinnock, P. 408.

उचित है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण सहस्राधिक वर्षोंसे हमारे दैनन्दिन जीवन पर छाये हुए हैं और हमें जीवनके शाश्वत-सन्देश प्रदान कर रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी महत्वपूर्ण गाथा 'महाभारत' तथा श्रीमद्भागवत में सुरक्षित है। यहीं पर हमें उनके चिर प्रफुल्लित तथा कर्मठ जीवनकी भव्य-भूमिका के विराट दर्शन होते हैं। वे वास्तव में भगवान् थे। श्रीमद्भागवतकारने लिखा है—

एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

भागवत् में मनमोहनका बाल्य तथा किशोर जीवनका सरस आख्यान है। व्रज में श्रीकृष्णचन्द्र कुल ग्यारह वर्ष, छः महीने, चारदिन ही रहे हैं।[1] वास्तव में भगवान् ने अपने 'गीताकार' तथा 'कुरुक्षेत्र' के लोक-नायक कृष्ण बननेकी पीठिकाका निर्माण अपने इन्हीं दिनों में किया था। शरीर की पुष्टता, मैत्री, दलभावनिर्माण, दुष्ट व खल जनों का दमन, विश्वास भाजन बनने की कला का उपार्जन, जड़-चेतनको मंत्र मुग्ध करने की युक्ति व कौशल आदि उपादानोंकी सर्जना इन्हीं माखनचोर तथा कृष्णकन्हैयाके रूप की कालावधि की बात है। 'भागवत्' के कथा अंशकी यही महिमामंडित कहानी है। 'भागवत' शब्द का अर्थ होता है—जो भगवान् का हो। महर्षि वेदव्यासने अपनी मानसिक शांतिके लिए इसका निर्माण किया था। इसमें बारह स्कन्ध हैं। श्रीकृष्ण—चरित्र केवल दशम् स्कन्धमें ही उपलब्ध है, जो सबसे बड़ा है। इस स्कन्धके भी दो भाग हैं। प्रथम भाग में ४९ अध्याय व द्वितीय में ४१ अध्याय हैं। प्रथम अंश में मथुरा की लीलाएँ व द्वितीय में मथुरा के जीवन का प्रसंग है। भागवतके विषय में महात्मा गांधी का कहना है कि यह ऐसा ग्रन्थ है, जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है।[2] इसी रूप का प्रभाव हमारे हिन्दी कवियों पर काफी पड़ा है। संस्कृतके जयदेव, मिथिलाके विद्यापति, वंगालीके चण्डीदास और हिन्दीके महाकवि सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, मीराबाई, हितहरि वंश, गदाधर भट्ट, मदनमोहन, रसखान, रहीम, तुलसीदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध, राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त, जगन्नाथदास'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, डॉ रामशंकर शुक्ल 'रसाल', डॉ द्वारकाप्रसाद मिश्र, श्री अमृतलाल चतुर्वेदी, कविवर अनूपशर्मा, श्रीगोविन्दजी, डॉ० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित आदि ने भगवान् श्रीकृष्णके नाना रूपोंकी काव्यात्मक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। कविवर रसखान की भक्ति-विह्वलता ही मानों पूर्ण वेग से फूट पड़ी है—

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि कौ सुख नंद की धेनु चराइ बिसारौं॥
आँखिन सौं रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥"

१—डॉ० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित—'कृष्णकाव्य में भ्रमर गीत', श्रीकृष्ण की जन्म तिथि, पृष्ठ ६०।

२—श्री सुदर्शनसिंह—'श्रीकृष्ण चरित्र' (पूर्वार्द्ध), पृष्ठ भूमि पृष्ठ १३।

३—महात्मा गाँधी—'कल्याण' भागवतांक, पृ० ७५।

मलयालम भाषा में भी श्रीकृष्णका चरित्र बिखरा पड़ा है। इसी प्रकार का एक तन्मय चित्र, एक वर्तमान प्रतिभासम्पन्न कविने चित्रित किया है :—

कालिन्दि प्पुज वरिक्कलुण्टोरयाल वृक्षम, कणिक्कोन्नये।
क्कालुम मंजलामाय मंजवसनम चार्त्तुन्नोरालुण्टतिल॥
कालाब्दान्विल कोमलाकृति कलापालम कृतोष्णीषना।
न्नालेन निर्भर भाग्य में मदन गोपालन मदालंबनम॥[1]

'महाभारत' में श्रीकृष्णका उदात्त व वीरत्व से परिपूर्ण चित्र मिलता है। उनके चरित्रका सांसारिक व भव्य रूप यहीं पर ही द्रष्टव्य है। कृष्णकाव्य का आरम्भ भी यहीं से हुआ है। यहाँ श्रीकृष्णको परब्रह्म परमात्माका अवतार माना गया है। महाभारतकार ने लिखा है—

"अनादि निधनो देवः स कर्त्ता जगतः प्रभुः।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम्॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम्।
पुरुषः स विभुः कर्त्ता सर्वभूतपितामहः॥"[2]

'महाभारत' में भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक व दिव्य रूप की सृष्टि है। उनका कथन, स्वयं उन पर ही चरितार्थ है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥[3]

महाभारत में ही उनका शान्तिदूत, कर्मनिष्ठ, गीतानिर्माता, कुशलराजकीय नियोजक, दूरदर्शितापूर्ण-विचारक, भविष्यद्रष्टा, कूट-नीतिज्ञ, अवतार, समाज सुधारक, संस्कृति के उन्नायक तथा क्षत्रिय धर्म उद्धारक रूप दृष्टिगोचर होता है। उनका धर्माचरण, न्यायानुमोदित-पथअवलम्बन, शौर्य-वीर्य का प्रशस्त दिग्दर्शन, अनुपम नेतृत्व, कुशल चिंतक, विरक्त, समता परायण, आसक्ति रहित और ज्ञान विज्ञान प्रखर मेधा प्रभा छिटकाता रूप विश्व के लिए शाश्वत मूल्य रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ही एकान्तिक व भागवत धर्मके उन्नायक माने गये हैं। उनके नाम में मोक्ष-सुख-तिरस्कारी प्रेमानन्द-दातृत्व शक्तिकी महानता अन्तर्हित है। उन्होंने अपने नाम के अर्थ-भूमि को सुख पहुँचाने वाला को सार्थक किया—

कृषिर्भूवाचकश्शब्दोणश्च निर्वृत्तिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥

१—डा० के० भास्करन नायर—हिन्दी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य. परिशिष्ट, कुछ चुने हुए छन्द, आधुनिक कवि पृष्ठ ३३४।

२—महर्षि वेदव्यास—'महाभारत', आदि-पर्व, अध्याय—६३।

३—भगवान् श्रीकृष्ण—'गीता', अध्याय ४, श्लोक ९।

उन्होंने असुर-राक्षस, तथा दुष्ट-क्षत्रिय पीड़ित भू-लोक-वासी जन-समुदायके दुःख दुष्टों का संहार करके दूर किये ।[1]

धर्मके ह्रास व अधर्मकी उन्नतिके समय ही परम परमेश्वर अवतार ग्रहण करते हैं । श्रीकृष्ण ने कहा है :—

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥[2]

देवी का भी यही कथन है—

"इत्थं यदायदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम् ॥"[3]

इसी तथ्य की पुष्टि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहेब ने भी की है—

"ले कुल्ले कोमिन हाव—इन मिन उम्मतिन इल्ला खला फिहा ।
नजीर—वलअकद व अस्ना फी कुल्ले उम्मतिन रसूलन ॥"[4]

डा० भगवानदासका कथन है कि इन सन्तों, महात्माओं, अवतारों और दिव्य विभूतियोंके आगमनसे पृथ्वी पर नूतन प्रकाश फैल जाता है । इश्के-हकीकी का आलम छा जाता है । धर्मको नई आत्मा प्राप्त होती है । धार्मिक कलह दूर होते और धर्मोंकी एकता पनपती है । यह दिव्य पुरुषोंकी परम्परा का ही परिणाम है ।[5] श्रीकृष्णने अपना जन्म कर्त्तव्य-कर्मके लिये ग्रहण किया था :—

"स्वधर्म कर्म विमुखाः कृष्ण कृष्णेति राविनः ।
ते हरेर्द्वेषिनो मूढाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥"

कृष्ण को पूर्णावतार माना गया है । सोलहों-कला से सम्पन्न उनका यह दिव्य रूप है । अवतार दो प्रकारके माने गये हैं यथा ऐश्वर्यावतार तथा लीलावतार । मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और शंकर इत्यादि युगावतार माने जाते हैं और भगवान् श्रीकृष्णका अवतार अट्ठाईस मन्वन्तरोंके पश्चात् कलि और द्वापरकी मिलन-बेलामें हुआ था । उपनिषदोंमें श्रीकृष्णका वर्णन मेधावी ब्रह्मचारी-छात्र, महाभारत

१—'श्रीमद्भागवत-पुराण' ।
२—भगवान् श्रीकृष्ण—'गीता', अध्याय ४ ।
३—'दुर्गा-सप्तशती' ।
४—पैगम्बर मुहम्मद साहेब—'कुरान-शरीफ' ।
५—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी द्वारा अनूदित–'धर्मों की एकता' दिव्य पुरुषों की परम्परा, पृष्ठ ६१ ।

में दैवी शक्तियोंसे सम्पन्न पुरुषोत्तम और हरिवंश-पुराण एवं श्रीमद्भागवतमें परब्रह्म परमेश्वरके रूपमें प्राप्त होता है।

महाभारतके श्रीकृष्ण कर्मवीर महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य-संस्थापक, कुशल-राजनीतिज्ञ और योद्धा हैं। क्षत्रिय देहमें ब्रह्म-ज्ञानी हैं। उनके जीवनमें महाशक्तिकी अनुपम छटा और रहस्यमयी क्रीड़ा दिखाई देती है। उस रहस्य की व्याख्या 'गीता' है।[१] गीताकी सृष्टि का कारण दुर्योधनकी हठवादिता, दुर्नीति तथा धनंजयका मोह है। महाप्राज्ञ श्रीकृष्णने प्रत्येक सम्भव उपायसे मेल करानेका प्रयत्न किया। दुर्योधनके इस उत्तर ने युद्ध-स्फुलिङ्गको दावानल में परिणत कर दिया—

"यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्ध्यग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥"[2]

"अन्ततोगत्वा" जिस प्रयोजन के लिये क्षत्राणी सन्तान उत्पन्न किया करती है, उसे पूरा करनेका समय आ गया।[3] कुरुक्षेत्रकी समर-भूमिमें 'गीताकी अमर-वाणीकी सृष्टि हुई। 'गीता' में ही भगवान् श्रीकृष्णका शाश्वत मूल्य निहित है। उनके विराट् व्यक्तित्व तथा अध्यवसायकी वह उज्ज्वल प्रतीक है। गीता को उपनिषदों का सार कहा गया है :—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥"

भगवान् वेदव्यासने भी गीताके महत्व का प्रतिपादन करते हुए उसके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन पर बल दिया है :—

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र-संग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय करके दिखलाया गया है। श्री वैद्य ने लिखा है कि इस सर्वोत्तम 'गीता' ग्रन्थका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य सुवर्णमय है।[५] श्री जे० डब्ल्यू० हेवर ने लिखा है कि 'गीता' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका महत्व अविनाशी है। श्री अल्डस हक्सले ने 'गीता' को चिरस्थायी दर्शन का पूर्णतया व्यवस्थित और आध्यात्मिक वर्णन कहा है। श्री तिलकजी ने उसे अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा तथा संसार के साहित्य का दुर्लभ बाल-बोध ग्रन्थ माना है।[६] —महर्षि अरविन्द ने लिखा

१—श्री महर्षि अरविन्द—'गीता-नवनीत', प्रथम भाग, दूसरा परिच्छेद, पृष्ठ १४।
२—महर्षि वेदव्यास—'महाभारत', उद्योग-पर्व, १२७-२५।
३— " " "
४—महर्षि वेदव्यास—'महाभारत', भीष्म-पर्व, ४३।१।
५—श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य—'महाभारत मीमांसा' पृष्ठ ४०।
६—श्री बालगङ्गाधर तिलक—'गीता-रहस्य'।

है कि मनुष्यके व्यावहारिक जीवनसे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीता—उठना-बैठना, खाना-पीना, कृषि-व्यापार—युद्ध आदि व्यावहारिक कार्यों के करने की ऐसी आन्तरिकविधि बतलाती है कि जिसके अनुसार मानव-जीवनके लिये आवश्यक समस्त कार्य करता हुआ, मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है और भगवान्को प्राप्त करके उसकी दिव्य शक्तिसे अपने इस सम्पूर्ण जीवनको दिव्य बना सकता है और साथ-साथ अपने समाज, राष्ट्र और मानव-जातिके जीवनको हर प्रकारसे उन्नत, समृद्ध और दिव्य बनानेमें सहयोग दे सकता है। गीता—लोक-परलोकमें, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता में सामंजस्य और सहयोग स्थापित करती है।१ महात्मा गाँधीने लिखा है कि आत्मार्थीको आत्म-दर्शन का अद्वितीय उपाय बतलाना ही हमारा आशय है।२ प्रसिद्ध कथावाचक—श्रीराधेश्याम ने तो भगवान् श्रीकृष्ण और उनके अनन्य भक्त 'बापू' की तुलना ही करदी है :—

"वह विख्यात ब्रजबिहारी थे, तो ये गुजरात बिहारी हैं।
वह चक्र-सुदर्शन-धारी थे, तो यह भी तकली-धारी हैं॥
वह काली कमली वाले थे, यह खादीमय दिखलाते हैं।
वह बंशी मधुर बजाते थे, यह चरखा खूब चलाते हैं॥"

वास्तव में हम अपना उद्धार स्वयं ही कर सकते हैं। हम स्वयं अपने बन्धु व रिपु हैं। स्व-नियन्त्रण व संयम ही सफलता की मूलभूत कुंजी है। भगवान् श्रीकृष्णने यह मर्म व नवनीत आजके भागते व गिरते मनुष्यको प्रदान किया है :—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥"

हमारे काव्य में—भगवान् श्रीकृष्णका गीता वाला प्रखर रूप व भागवत वाला मृदुल रूप—दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रज-भारतीके अमर-गायक सूरदासने भक्ति-कालमें, यवनों द्वारा त्रसित व प्रताड़ित हिन्दू जनताके समक्ष भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अपनी सरस भावनामयी भक्ति प्रकट की। सूरदासके श्रीकृष्ण जहाँ स्नेही व चिर-प्रफुल्ल हैं, वहाँ नन्ददासके श्रीकृष्ण द्रवणशील और सच्चे प्रणयी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके श्रीकृष्ण कृपासागर व स्नेहमय हैं और सत्यनारायण कविरत्नके श्रीकृष्ण रसिक-शिरोमणि व प्रमोद-प्रदाता हैं। रत्नाकरने प्रेमोपासक-कृष्णके चित्र हमें दिये हैं और राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्तने कर्मठ-कृष्णके। आधुनिक-युगमें भगवान् श्रीकृष्णका युगानुकूल चरित्र-चित्रण किया गया है। इस युगमें कृष्ण-चरित्र पर दो महाकाव्य प्राप्त होते हैं। सन् १९१४ में श्रीअयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने खड़ी बोलीमें प्रथम महाकाव्यके

१—श्री केशवदेव आचार्य—'गीता-नवनीत', पृष्ठ ६।
२—महात्मा-गाँधी—'अनासक्ति-योग', (गीता) भूमिका।

रूपमें 'प्रिय-प्रवास' की रचना की। डा० द्वारकाप्रसाद मिश्रने अवधी भाषामें सन् १९४३ में 'कृष्णायन' महाकाव्यका निर्माण किया। 'प्रिय-प्रवास' में श्रीकृष्णका चरित्र एक आदर्श-मानवके रूप में हुआ है। सतत् लोक-कल्याणके लिए गतिमान कृष्ण मानवताके एक आदर्श हैं। 'कृष्णायन' के नायक शक्ति, शील और सौन्दर्यसे ओत-प्रोत, प्रबल समाज-सुधारक एवं धर्म-संस्थापक हैं। हरिऔधजीने श्रीकृष्णका यह लोकोपकारी चित्र खींचा है :—

"वेजी से हैं अवनि जनके,
प्राणियों के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको,
विश्व का प्रेम प्यारा॥"

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका असम महत्व है। आजके युगमें जबकि हिंसा, छल, कपट और प्रवंचनाके वात्याचक्र चल रहे हैं, श्रीकृष्णका व्यक्तित्व और सन्देश अधिक उभरकर हमारे सामने आता है। आध्यात्मिकताकी कमीके कारण ही हम, बुद्धि-तर्कवादी व दिग्भ्रान्त होते चले आ रहे हैं। गीताने हमारे राष्ट्रीय-आन्दोलनमें संजीवनी बूटीका कार्य किया है। गीता हमारी मानवताके लिए पीयूष है। संसारके लिए, भगवान् श्रीकृष्णका चिरन्तन मूल्य है। उन्होंने हमारे कवियोंको अनुभूति प्रदान की, राजनीतिके मार्ग को निर्मल व प्रशस्त बनाया और समाज व संस्कृतिका पुनर्गठन किया। विश्वके साहित्य में किसी व्यक्ति विशेष पर इतने विपुल साहित्यका निर्माण नहीं हुआ है, जितना कृष्ण व राम पर। एक जीवनकी प्रफुल्लता तथा कर्मठता है, तो दूसरा जीवन की मर्यादा, साधना और धर्मनिष्ठ रूप। युग-युगान्तरों तक भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी, मार्ग-दर्शन, उदात्त व्यक्तित्व, तथा महिमामय रूप, मानवको परिश्रमी, धर्मावलम्बी और शक्तिपूर्ण बनाता रहेगा।

❀ नित नित नव मंगल करनि ❀

श्री जमुना कल कूल कदम्बन की परछाँहीं।
प्रमुदित श्री गोपाल ठढ़े मुरली मुख माँहीं॥
मोर पाँखुरी सीस गरें गुंजा बन-माला।
इत उत गाय अनेक मईं मोहित ब्रज-बाला॥

कवि 'सरस' बाल गोपाल छबि, भक्तनु भव-बाधा हरनि।
धरि ध्यान नैन मन सों सदा, नित नित नव मंगल करनि॥

राजाबाबू बर्म्मन 'सरस'

"कल्पनाएँ और विचारोंने वृन्दावनकी गरिमाके छोरको पकड़नेका बार-बार प्रयत्न किया, पर फिर भी वह छोर, अ-छोर ही बना रहा। इतिहास भी वृन्दावनको स्पर्श नहीं कर सका है। भगवान् श्रीकृष्णने वृन्दावनको अपना 'नित्य-धाम' कहकर इतिहासके पैरोंको भी निर्बल कर दिया है।"

परम आराध्य श्री वृन्दावन

श्रीकिशोरीरमण

वृन्दावन का अर्थ है—वह वन, जिसमें 'श्रीराधा' अथवा 'तुलसी' का निवास हो। श्रीराधा आदि शक्ति हैं। पुराणोंके मतानुसार सम्पूर्ण सृष्टिका निर्माण, पालन और लय इन्हींकी इच्छाओंसे होता है। वे सर्वोपरि हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश—उनकी ही इच्छाओं में आवद्ध रहते हैं। स्वयं गोलोक-वासी श्रीकृष्ण भगवान् भी, जो निराकार और साकार रूपमें जगत्के कण-कणमें परिव्याप्त हैं, श्रीराधिकाजीकी इच्छाओंके ही वशीभूत रहते हैं। अतः उस वनकी पवित्रता, नित्यता और आनन्दमयताके सम्वन्धमें कहना ही क्या, जो सृष्टि-सर्वेश्वरी, स्वयं श्रीराधिकाजी का बिहार तथा निवास-स्थल हो। यदि हम 'तुलसी' को सामने रखकर 'वृन्दावन' की पावनता और उसकी अनुपमता पर विचार करते हैं, तो भी वृन्दावनकी पावनताका अखण्डित चित्र ही सामने प्रस्तुत होता है। क्योंकि ब्रह्मवैवर्त-पुराणकी एक कथाके अनुसार 'तुलसी' को 'हरि-प्रिया' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। 'श्रीराधा' और 'तुलसी'—दोनों ही दृष्टियों से 'वृन्दावन' का सम्वन्ध उन सर्वेश्वरसे ही है, जो लोक-लोकोंके नियामक और सिरताज हैं।

आज 'वृन्दावन' का जो रूप सामने है, उसे समक्ष रखकर विचार करने पर वृन्दावनको श्रीराधिकाजीकी ही निवास-स्थली कहना अधिक उपयुक्त होगा। आजके वृन्दावनमें—गली गलीमें, मोड़-मोड़ पर, चतुर्दिक् 'श्रीजी' अर्थात् 'राधारानी' की ही जय-ध्वनि सुननेको मिलती है। आजके वृन्दावनमें सहस्रों ऐसे साधक और साधिकाएँ हैं, जो केवल 'श्रीजी' की साधना ही नहीं करतीं, वरन् उन्होंने अपने आचरणों और व्यवहारों में भी 'श्रीजी' को ही स्थान दिया है। 'वृन्दावन' के अतीतके इतिहासके पृष्ठोंसे भी पता चलता है कि वृन्दावनमें अनेक ऐसे साधक और भक्त हो चुके हैं, जिन्होंने 'वृन्दावन' की गोदमें बैठकर 'राधारानी' की आराधना अथवा उपासना की है। आज भी 'वृन्दावन' में अनेक ऐसे संत और आचार्य हैं, जिनके मुखसे यह सुननेको मिलता है कि वृन्दावन

में वही मनुष्य रह सकता है, जिस पर राधारानीकी महान् अनुकम्पा होती है। वृन्दावन की रजके कण-कण पर राधारानीका स्वामित्व मिलता है। 'राधारानी' आदि-महाशक्ति हैं—उन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्की महाशक्ति हैं, जो गोलोकमें रहकर, सृष्टि के कण-कणमें विराजमान हैं। अतः जब वृन्दावन श्रीराधिकाजीकी विहार-स्थली है, तो उसे श्रीकृष्ण भगवान्की विहार या निवास-स्थली होनेका महान् गौरव तो प्राप्त ही है। फिर तो उस वृन्दावन की पावनता, नित्यता और आनंदमयताके चित्रोंका अंकन कर ही कौन सकता है, जिसमें श्रीराधिका और श्रीकृष्ण भगवान्—'युग्म' रूपमें निवास करते हैं।

श्रीमद्भागवत और पुराणोंके मतानुसार 'वृन्दावन' शाश्वत है—नित्य है। 'शाश्वत' और 'नित्य' इस अर्थमें कि यह वृन्दावन, जो धरती पर है, उस वृन्दावनका ही एक प्रतिरूप है, जो गोलोकमें स्थित है। भगवान् श्रीकृष्णने यद्यपि स्वयं इस रहस्यका उद्घाटन नहीं किया, पर उनके वृन्दावन-प्रेममें यह 'रहस्यमयता' तो छिपी हुई जान पड़ती है। भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेने पर—अपनी अनेक लीलाएँ 'वृन्दावन' में ही कीं। 'वृन्दावन' में ही उन्होंने श्रीराधाजी और गोपियोंके साथ रास-लीला भी की। 'वृन्दावन' में ही उनके द्वारा साहस और शौर्यके अनेक चित्र भी बने। केवल इतना ही नहीं, कई अवसरों पर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं यह प्रगट भी किया है कि उन्हें 'वृन्दावन' सर्वाधिक प्रिय है।

भगवान् श्रीकृष्ण और 'वृन्दावन' का शाश्वत सम्बन्ध है। पद्म-पुराणकी एक कथाके अनुसार एक बार गोलोकमें नारदजी के द्वारा 'वृन्दावन' के रहस्यके सम्बन्धमें प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं निम्नांकित वचन कहे थे—"नारद, भू-तल पर जो यह रमणीय 'वृन्दावन' है, वह केवल मेरा श्री धाम है। यहाँ जो भी पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग तथा मनुष्य-देवता आदि प्राणी मेरे निकट रहते हैं, वे मृत्युके पश्चात् मेरे समीप चले आते हैं। यहाँ जो गोपाङ्गनाएँ मेरे धाममें निवास करती हैं, वे भी योगिनियाँ हैं और इस रूपमें यहाँ रहकर मेरी सेवामें संलग्न हैं। यह पाँच योजन लम्बा-चौड़ा जो वन है, मेरा शरीर रूप है। यहाँ परम अमृतकी धारा बहाने वाली जो यमुना है, वही मेरे इस देह की सुषुम्ना-नाड़ी है। इसमें सम्पूर्ण देवता और भूत सूक्ष्म रूपसे निवास करते हैं। मैं सर्वत्र व्यापक होकर भी कभी इस वनका त्याग नहीं करता हूँ। यहाँ युग-युगमें मेरा आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। यह वृन्दावन तेजोमय स्थान है। इसका यह तेजस्वी-रूप चर्म-चक्षु वाले लोगोंको दृष्टिगोचर नहीं होता है। तुम द्वापरयुगमें मेरे रहस्य और प्रभावसे युक्त वृन्दावनको देखना। ब्रह्मादि देवताओंके लिए भी वह किसी प्रकार दृष्टि का विषय नहीं होता।" वृन्दावनकी नित्यता, उसकी शाश्वतता और उसकी परम आनंदमयताका सार ही उक्त पंक्तियोंमें छिपा हुआ है। वृन्दावन जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका शरीर ही है, तो फिर 'वृन्दावन' और भगवान् श्रीकृष्णके पारस्परिक सम्बन्ध की 'चर्चा' चलाना ही व्यर्थ है। कहना तो यह चाहिए कि 'वृन्दावन' स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका ही एक प्रतिरूप है। 'वृन्दावन' की आनंदमयता और नित्यता भगवान् श्रीकृष्ण की ही 'आनंदमयता' और 'नित्यता' है।

भगवान् शंकर ने भी वृन्दावनकी रहस्यमयता और उसकी अनुपमता का चित्रण गौरव-पूर्ण शब्दों में किया है। 'पद्म-पुराण' के अनुसार एक बार जब माँ पार्वतीजी ने शिवजी से वृन्दावनकी रहस्यमयता और इसकी नित्यता के संबंध में प्रश्न किया तो शिवजी ने उनके प्रश्न का उत्तर निम्नांकित शब्दों में दिया था—"वृन्दावन ही भगवान् का सबसे प्रियतम धाम है। वह गुह्यसे भी गुह्य, उत्तमसे भी उत्तम, और दुर्लभसे भी दुर्लभ है। वह तीनों लोकोंमें अत्यन्त गुप्त स्थान है। बड़े-बड़े देवेश्वरभी उसकी पूजा करते हैं। ब्रह्मा आदि भी उसमें रहनेकी इच्छा करते हैं। वहाँ देवता और सिद्धोंका निवास है। योगीन्द्र और मुनीन्द्र आदि भी सदा उसके ध्यानमें तत्पर रहते हैं। श्रीवृन्दावन बहुत ही सुन्दर और पूर्णानन्दमय रसका आश्रय है। वहाँकी भूमि चिन्तामणि है, और जल रससे भरा हुआ अमृत है। वहाँके पेड़ कल्पवृक्ष हैं, जिनके नीचे झुण्डकी झुण्ड कामधेनु गौएँ निवास करती हैं। वहाँ की प्रत्येक स्त्री लक्ष्मी, और प्रत्येक पुरुष विष्णु है; क्योंकि वे लक्ष्मी और विष्णुके दशांशसे प्रकट हुए हैं। उस वृन्दावनमें सदा श्याम-तेज विराजमान रहता है, जिसकी नित्य-निरन्तर किशोरावस्था बनी रहती है। वह आनन्दका मूर्तिमान विग्रह है। सङ्गीत, नृत्य, और वार्तालापकी अद्‌भुत योग्यता रखता है। उसके मुख पर सदा मन्द-मुसकानकी छटा छायी रहती है। जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, जो प्रेमसे परिपूर्ण हैं, ऐसे वैष्णव-जन ही उस वनका आश्रय लेते हैं।

वृन्दावन पूर्ण ब्रह्मानन्दमें निमग्न है। वहाँ ब्रह्मके ही स्वरूपकी स्फुरणा होती है। वास्तवमें वह वन ब्रह्मानन्दमय ही है। वहाँ प्रतिदिन पूर्ण चन्द्रमाका उदय होता है। सूर्यदेव अपनी मन्द रश्मियोंके द्वारा उस वनकी सेवा करते हैं। वहाँ दु.खका नाम भी नहीं है। उसमें जाते ही सारे दुःखोंका नाश होजाता है। वह जरा, और मृत्युसे रहित स्थान है। वहाँ क्रोध और मत्सरताका प्रवेश नहीं है। भेद और अहंकारकी भी वहाँ पहुँच नहीं होती। वह पूर्ण आनन्दमय, अमृत-रससे भरा हुआ, अखण्ड प्रेम-सुखका समुद्र है। तीनों गुणोंसे परे है, महान् प्रेम-धाम है। वहाँ प्रेमकी पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति हुई है। जिस वृन्दावनके वृक्ष आदि ने भी, पुलकित होकर प्रेम-जनित आनन्दके आँसू बरसाये हैं, वहाँ के चेतन-वैष्णवोंकी स्थितिके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है?

भगवान् श्रीकृष्णकी रजका स्पर्श होनेके कारण वृन्दावन इस भू-तल पर नित्य-धामके नामसे प्रसिद्ध है। वह सहस्र-दल-कमलका केन्द्र स्थान है। उसके स्पर्शमात्रसे, यह पृथ्वी तीनों लोकोंमें धन्य समझी जाती है। भू-मण्डलमें वृन्दावन गुह्यसे गुह्यतम, स्मरणीय, अविनाशी, तथा परमानन्दसे परिपूर्ण स्थान है। वह गोविन्दका अक्षय-धाम आश्रय है। जहाँकी धूलिका स्पर्श होने मात्रसे ही मोक्ष होजाता है, उस वृन्दावनके माहात्म्यका वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है?"

वृन्दावन राधारानीका पुण्यधाम है, या भगवान् श्रीकृष्णका, यहाँ यह कहना नहीं है। यहाँ कहना तो यह है कि श्रीवृन्दावन अचिन्त्य है, विचारोंसे परे है। कल्पनाओं और विचारोंने 'वृन्दावन' की गरिमाके छोरको पकड़नेका बार-बार प्रयत्न किया, पर फिर भी

यह 'छोर' अछोर ही बना रहा। इतिहास भी वृन्दावनको स्पर्श नहीं कर सका है। भगवान् श्रीकृष्णने वृन्दावनको अपना 'नित्य-धाम' कहकर, इतिहासके पैरोंको भी निर्बल कर दिया है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके पश्चात् ही वृन्दावनका यश-अस्तित्व प्रकट हुआ है। सच बात तो यह है कि वृन्दावन नित्य है, शाश्वत है। भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके पूर्व भी वृन्दावनकी पवित्रता, आनन्दमयता और अखण्डताकी कहानी भारतवर्षके कोने-कोनेमें परिव्याप्त थी। भगवान् श्रीकृष्णको, बाल्यावस्थामें ही वृन्दावन बहुत प्रिय लगता था। वे अपने अग्रज श्रीबलरामजी, और गोप-सखाओंके साथ प्रायः गौएँ चरानेके लिए 'वृन्दावन' जाया करते थे। वृन्दावनके वृक्ष, लताएँ और बल्लरियाँ सचेतनोंकी भाँति ही श्रीकृष्णके चरणोंमें, अपने श्रद्धा-कुसुम अर्पित किया करती थीं। श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीकी अभ्यर्थनाके रूपमें स्वयं 'वृन्दावन' और उसके वृक्षोंकी प्रशंसा निम्नांकित रूपमें की है—"देव-शिरोमणे, यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरण-कमलों की पूजा करते हैं, परन्तु देखिये तो—ये वृक्ष भी अपनी डालियोंसे सुन्दर पुष्प और फलोंकी सामग्री लेकर आपके चरण-कमलोंमें झुक रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं। क्यों न हो, इन्होंने इसी सौभाग्यके लिए तथा दर्शन एवं श्रवण करने वालोंके अज्ञानका नाश करनेके लिए ही तो वृन्दावन-धाममें वृक्ष-योनि ग्रहण की है।"

वृन्दावन 'नित्य-धाम' के रूपमें प्रतिष्ठित तो है ही, सर्वप्रिय भी है। 'सर्वप्रिय' वही होता है, जो नित्य है, शाश्वत है। हिन्दुओंके लिए वृन्दावन आराधनीय तो है ही, परधर्मा-बलम्बियोंके लिए भी 'वृन्दावन' आकर्षणका केन्द्र है। यही वृन्दावन है, जिसकी रजमें लोट-लोटकर 'रसखान' ने अपने जीवनको सार्थक किया था, यही वृन्दावन है जिसके आकर्षण पर 'ताज' अपना सर्वस्व लुटा बैठी थी, यही वृन्दावन है, जिसके एक भक्त—'हरिदास' की कुटी पर अकबरका मस्तक झुक गया था, और यही वृन्दावन है, जिसकी पवित्र रजके कणोंने औरङ्गजेबके गर्वको चूर्ण कर दिया था। कितने ही अँगरेज, कितने ही विदेशी और कितने ही ईसाई भी 'वृन्दावन' के रंगमें रँग चुके हैं। वृन्दावनका रङ्ग ही ऐसा अपूर्व है। 'वृन्दावन' पशु, पक्षी, मनुष्य—सबको अपने रँगमें रँग डालता है। परन्तु वृन्दावन पर किसी का रँग नहीं चढ़ता। यवनोंके शासन कालमें, दिल्ली और आगराके सन्निकट होने पर भी वृन्दावनकी गरिमा अखण्ड बनी रही। अँगरेजोंके शासन कालमें भी वृन्दावनकी यश-पताका अपने ही रूपमें उड़ती रही, और आजके धर्म-निरपेक्ष शासनमें भी, वृन्दावनका अपना ही स्वरूप है। कदाचित् भारतवर्षमें वृन्दावन ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्म बोलता है। वृन्दावनकी 'नित्यता' का—उसकी 'शाश्वतता' का यह सबसे बड़ा और सजीव दृष्टान्त है।

'वृन्दावन' शाश्वत तो है ही, आनन्दमय भी है। 'मथुरा' की सीमा लाँघते ही रोम-रोममें आनन्द उमड़ पड़ता है। ज्यों-ज्यों वृन्दावनकी ओर बढ़ते हैं, लगता है, मानो प्राण आनन्दके रसमें डूबते जारहे हों। वृन्दावनमें न आजके भौतिक हास-विलासके साधन हैं और न स्थान। पर फिर भी वृन्दावनकी गोदसे बाहर निकलनेको जी नहीं चाहता। मन में होता है कि बस यहीं रमा रहूँ—यहीं साँसें तोड़ दूँ। वृन्दावनको छोड़ते हुए आँखें

अपने-आप गीली होजाती हैं। ऐसा लगता है, मानो किसी प्राण-धनका बिछोह हो रहा है। वे धन्य हैं, जो वृन्दावनमें रहते हैं। वे परमपूजनीय हैं, जो वृन्दावनकी रजमें लोटते हैं। वृन्दावन आराध्य है—परम आराध्य है। कोटि-कोटि भक्तों, अर्चकों और साधकोंकी सुरभि-साँसें दिन-रात वृन्दावनके वायुमण्डलको सुवासित करती रहती हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाके चरण-चिह्नोंसे अंकित वृन्दावनकी धरतीका यश-गान, मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक करते हैं। देवता भी वृन्दावनकी उस रजको, चन्दनकी भाँति अपने शरीरमें लगानेके लिए तरसते हैं, जो श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके चरणकमलोंमें बार-बार लगकर परागके कणोंकी भाँति बार-बार अलग हुई है। भला कौन परागके उन कणोंमें—रज-कणोंमें लोटनेके लिए उत्कण्ठित न होगा? परागके वे कण मोक्षदायी हैं, सुखदायी हैं, परम-आनन्ददायी हैं।

प्रभु ! समर्पण हैं तुम्हें ये भावना के फूल !

प्रभु ! समर्पण हैं तुम्हें ये भावना के फूल।
भेंट क्या दूँ सोचता था,
वस्तु अनुपम खोजता था,
थक गया जब,
यह मिली तब,
भेंट यह अनुकूल।
प्रभु ! समर्पण हैं तुम्हें ये भावना के फूल।
आ गया हूँ आज सम्मुख,
छोड़ झूठे स्वप्नवत् सुख,
अब न चुभते,
नित्य उगते,
कामना के शूल।
प्रभु ! समर्पण हैं तुम्हें ये भावना के फूल।
अब सभी कुछ है तुम्हारा,
रूप - तन - मन - धन सहारा,
मान कर यह,
जान कर यह,
है न मेरी भूल।
प्रभु ! समर्पण हैं तुम्हें ये भावना के फूल।

श्री त्रिलोकीनाथ व्रजबाल एम० ए०

"कलियुगका तारक ब्रह्म नाम है—'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे।' हरिनाम के अतिरिक्त और सत्कर्म कौनसा है? हरिनाम ही सर्वार्थ दान कर सकता है। नामाश्रयी की रक्षा नाम ही करता है।"

कृष्ण केशव पाहिमाम्

श्रीरसिकविहारी

"ईश्वर : परम : कृष्ण : सच्चिदानन्द विग्रह : । अनादिरादि गोविन्द : सर्वकारणकारणं ।"

समस्त कारणोंके कारण, समस्त अवतारोंके मूल। सर्व आकर्षक आनन्द विग्रह। रसमें, शक्तिमें, ऐश्वर्यमें सर्वातिशायी। नरवपु किन्तु प्राकृत पांचभौतिक शरीर नहीं। घनीभूत आनन्द ही है श्रीकृष्ण का शरीर। मायिक या प्राकृत आनन्द नहीं है यह, चिन्मय आनन्द है। श्रीकृष्णकी सौन्दर्यमाधुरी भी अप्राकृत है: 'वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन।' प्राकृत जगतमें कामनाकी वस्तु की प्राप्तिके पश्चात् लालसा का प्रशमन हो जाता है। किन्तु कृष्ण-प्राप्तिमें लालसाका अवसान नहीं होता, तृष्णा और बढ़ती जाती है। नित्य नवायमान है कृष्ण-माधुरी।

समस्त रसोंके विषय-आश्रय हैं श्रीकृष्ण : अखिल रसामृत मूर्ति। रसों का राजा है शृङ्गार और उसीकी प्रतिमूर्ति हैं श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण लीलामें ही भगवद् लीला अत्यन्त माधुर्यमय रूपमें प्रकाशित हुई है। और जो शक्ति श्रीकृष्णको आह्लादित करती है, वह शक्ति है—श्रीराधिका। यह केवल श्रीकृष्णको ही नहीं, कृष्ण भक्तको भी सुखास्वादन कराती है। इस ह्लादिनी शक्ति का सार है प्रेम, आनन्द-चिन्मय-रस। प्रेम का सार है महाभाव। और महाभाव रूपा ही है श्रीराधिका। प्रेम की प्रतिमा। सदा कृष्णसंग, कृष्ण-चितामें लीन। श्रीराधिकाके माध्यम से ही श्रीकृष्ण अपनी माधुरी का आस्वादन स्वयं करते हैं। श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णकी गति नहीं है। इस संदर्भमें पंडित प्रवर महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराजने अपने 'श्रीकृष्ण प्रसंग' नामक ग्रन्थमें कहा है—'एक मात्र राधाभावके प्राप्त करने पर ही श्रीकृष्ण तत्वके परम स्वरूप का स्फुरण संभव है, इससे पहले उसकी ठीक-ठीक स्फूर्ति नहीं होगी। श्रीराधिका कृष्ण प्रेममयी हैं—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता।
सर्व लक्ष्मीमयी सर्व कान्ति : सम्मोहिनी परा॥

श्रीराधिकाका कृष्ण-प्रेम अनिर्वचनीय है। यह एक दुरवगाह्य अननुमेय हृदयानुभूति है—

एमन पिरिति कभु देखि नहीं सुनि।
पराने परान बाँधा आपना आपनि ॥
दुहूँ कोरे दुहूँ कांदे विच्छेद भाविया।
आध तिल ना देखिले जाय से मरिया ॥
जल विनु मीन येन कभु नहीं जिये।
मानुषे एमन प्रेम कोथाय सुनिये ॥—'चण्डीदास'

—ऐसा अनिर्वचनीय प्रेम न देखा गया है कहीं, न सुना गया है। दोनों एक दूसरे के लिये सर्वदा उत्कंठित रहते हैं। बड़ी विचित्र गति है इस प्रेम की। निरवच्छिन्न मिलनमें भी विरह की शंका बनी रहती है—

प्रियस्य सन्निकर्षेहृनि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेष धियार्तिस्तत प्रेमवैचित्य मुच्यते ॥

—'उज्ज्वलनीलमणिः', शृंगारभेद प्रकरणम्।

श्री कृष्ण हैं अखण्ड रसस्वरूप, और श्रीराधा अखण्ड रसवल्लभा। प्रेममूर्ति राधा जैसे कृष्णमयी हैं, प्रेम विग्रह कृष्ण भी वैसे ही राधामय हैं। "चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधा-कृष्णमयं जगत्।" जगत् की सब चित् और अचित् वस्तु राधाकृष्णमय है। सब उनकीही विभूति हैं। "बिना ताभ्याम् न किंचन्"—राधाकृष्णके बिना कुछ नहीं।

श्रीकृष्ण राग, श्रीराधा रति। श्रीकृष्ण सूर्य, श्रीराधा प्रभा। श्रीकृष्ण शशांक, श्रीराधा अनपायिनी कान्ति। श्रीकृष्ण दिन, श्रीराधा रात्रि। श्री कृष्ण लोभ, श्रीराधा तृष्णा। श्रीकृष्ण द्रुम, श्रीराधा लता। श्रीकृष्ण भगवान्, श्रीराधा भक्त। श्रीराधा ही श्रीकृष्णकी मूर्तिमयी आराधना हैं। तभी श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णका कोई अस्तित्व नहीं। श्रीराधाकी कृपा बिना श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त हो नहीं सकती। भक्त की सेवा के बिना श्रीकृष्णकी प्रसन्नता अलभ्य है—

अनाराध्य राधापदाम्भोजरेणु—
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत् पदांकाम्।
असम्भाव्य तद्भावगंभीर चिन्तान्
कुतः श्यामसिंधो रसस्यावगाहः ॥

भक्तिशास्त्र में रागात्मिका भक्तिको ईश्वर-प्राप्ति का परमोत्कृष्ट और मधुरतम साधन बताया गया है। उस असीम रूपातीतकी उपलब्धि रागात्मिका भक्तिके द्वारा ही संभव है। यह भक्तिही सब प्रकार की सिद्धियोंकी अन्तर्निहित प्राणधारा है। भक्तकी सारी चेष्टायें ही भगवत्सेवा हैं। भगवान्की प्रीति को छोड़कर कोई और काम नहीं है उसे। भक्त सुखकी कामना नहीं करता, केवल सेवा करना चाहता है। फिर, सेवाके आनन्द से सेवाकी अभिलाषा में ही उसे अधिक आनन्द मिलता है।

महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने इस प्रेमोज्ज्वल भक्तिमार्गका प्रदर्शन नामसंकीर्तनके माध्यमसे किया है। कलि कालमें नाम संकीर्तन में ही भक्तिका समुत्थान हुआ है। नामसे हीं शान्ति मिलती है। संसृतिका नाश होता है। एक मात्र नाम मेंही प्रेमदान की क्षमता है। नाम माधुरी है चेतः प्रांणसंगिनी, किसी तरह चित्तसे विच्छिन नहीं होती। नाम पापहर है—यह बड़ी बात नहीं, नाम मुक्तिदाता है यह भी बड़ी बात नहीं, नाम प्रेमिक बना देताहै,यही बड़ी बात है। नाम और नामी अभिन्न हैं, तभी इतनी महान् शक्ति है नाममें। 'एतद्धि एवं अक्षरं ब्रह्म': यह नामाक्षर ही ब्रह्म है।

नवधा भक्ति की पूर्णता भी नाममें है। शुकदेवजीने भागवतमें कहा है—'भगवान् विष्णु का नाम संकीर्तन ही जगतमें मंगलस्वरूप है। इसके द्वारा बड़ेसे बड़े पापसे भी छुटकारा मिल जाता है। भगवान् हरिके पुण्य चरित्रके निरन्तर श्रवण कीर्तनसे भक्ति उपजती है। उस भक्तिसे जो चित्त-शुद्धि होती है, वह विभिन्न व्रत नियम आदिसे भी लभ्य नहीं। जो एक बार श्रीकृष्णपादपद्ममधु का स्वाद पाता है, फिर उसकी दुर्गतिमय मायाविषयोंमें रति नहीं होती।'

सत्ययुग का तारक ब्रह्म नाम है, 'नारायण परीवेदो नारायणपराक्षरा। नारायण परामुक्तिः नारायणपरागतिः ॥' त्रेतायुग का तारक ब्रह्मनाम है, 'राम नारायणान्त मुकुन्द मधुसूदन। कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन।' द्वापरयुग का तारक ब्रह्मनाम है, 'हरे मुरारे मधुकैटभारे। गोपालगोविन्द मुकुन्द शौरे। यज्ञेश नारायण कृष्णविष्णो। निराश्रयं माम् जगदीश रक्ष।' और कलियुग का तारक ब्रह्म नाम है, 'हरेकृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरेराम हरेराम राम राम हरेहरे। 'हरिनामके अतिरिक्त और सत्कर्म कौनसा है ? हरिनाम ही सर्वार्थ दान कर सकता है। नामाश्रयीकी रक्षा नाम ही करताहै।

'नगतिर्विद्यते नाथ, त्वमेव शरणं मम।'

हे करुणामय, तुमहीअनन्यशरण हो। मुझे दृढ़ाचलाभक्ति देकर रक्षाकरो।

राम राघव, राम राघव, राम राघव रक्षमाम्।
कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, पाहिमाम् ॥

—:※:—

नैवेद्य

फुल्के की तरह,
रात के काले तवे पर,
उलटने पुलटने के पश्चात्,
दिन की भट्टी में सिककर,
जिस जिन्दगी पर दाग नहीं लगता,
वही,
भगवान् के नैवेद्य लगाने के काम आती है।

श्री रामनारायण उपाध्याय

"गीताका ज्ञान अर्जुनको दिया गया था, किन्तु विद्वानोंका ऐसा मत है, कि अर्जुनको निमित्त बनाकर मानव-मात्रके लिए ही श्रीकृष्णने वह उपदेश दिया था। गीतामें मानवताको कल्याणका मार्ग दिखाया गया है।"

महामानव रूपमें श्रीकृष्णकी आराधना

डा० श्रीकृष्णदत्त भारद्वाज, एम-ए. पी. एच. डी. आचार्य

श्रीमद्भागवतके उपक्रममें यह बताया गया है कि नैमिषारण्यमें शौनकादिक ऋषियों के प्रति भगवच्चर्चा करते हुए सूतजीने अनेकानेक उपादेय तत्वोंका प्रवचन किया था। उनमेंसे एक तत्त्व यहभी बतायाथा कि श्रीकृष्ण स्वयम् भगवान्थे [कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्]। भगवान्में ऐश्वर्य, ज्ञान, यश, श्री, धर्म और वैराग्य परिपूर्ण रूपमें होते हैं। शेष और शारदाभी भगवान्की महिमाका वर्णन नहीं कर पाते। उनका स्वरूप, रूप, गुण, धाम और लीला—सभी कुछ दिव्य और अलौकिक होता है। मानव-मनीषा चिन्मय जगत् के जानने में असमर्थ है; अतः सच्छास्त्रोंके वचन ही भगवत्तत्व के सम्वन्ध में प्रमाण हैं।

भगवान् अपनी दोनों विभूतियोंके अर्थात् लीला-विभूति और नित्य-विभूतिके अधिपति हैं। वे ही विश्व प्रपंचके सृष्टि-स्थिति-प्रलयके परम कारण हैं। साधुओंके परित्राण, दुष्टों के दमन और धर्मके संस्थापनके लिए जब वे यहाँ प्रकट होते हैं, तो कहा जाता है कि उनका अवतार हुआ। ऐसा ही अवतार द्वापरके अन्तमें मथुरामें हुआ था। मथुरा, मधुरा हो गई। भक्तोंकी आराध्या बन गई। अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्ण कहलाये। उन्होंने माया-मानव रूपमें अनेक चरित्र किये, जिनके श्रवण, मनन और अध्ययनसे प्राकृत मानव अपना उद्धार कर सकता है। नीचेकी पंक्तियोंमें श्रीकृष्णकी महा-मानवके रूपमें संक्षिप्त चर्चा की गई है।

श्रीकृष्णका जन्म पाँच सहस्र से भी कुछ अधिक वर्ष पूर्व, भादों सुदी अष्टमीको रात के बारह बजे, मथुरामें, देवकी और वसुदेवके पुत्र रूपमें हुआ था। उन दिनों देवकी और वसुदेव मथुराके नृपति कंसके कारागारमें बन्दी थे। वसुदेव बाल-कृष्णको कंसके अत्याचारसे बचाना चाहते थे, इसलिए वे उसी रातको उन्हें चुपचाप यमुना पार करके गोकुलमें अपने मित्र नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये। उन दिनों वसुदेवकी दूसरी पत्नी रोहिणी भी वहीं थीं। बलराम रोहिणीके पुत्रथे और कृष्णसे एक वर्ष बड़े थे।

श्रीकृष्णका बाल्य-काल, अपने भाई बलरामके साथ, नन्द और उनकी पत्नी यशोदा की देख-रेखमें बीता । नन्द-यशोदा जब गोकुलसे वृन्दावन चले गये, तब दोनों भाई भी वहीं रहे। वृन्दावनमें श्रीकृष्णने जो बाल-लीलायेंकीं, वे बड़ी मधुर हैं। सूरदास सरीखे भक्तोंने विस्तार-पूर्वक अपने ग्रन्थोंमें उनका वर्णन किया है।

ग्यारह वर्षकी अवस्था तक वृन्दावनमें रहकर श्रीकृष्ण मथुरा आ गये। वहाँ कंसको मार कर उन्होंने अपने माता-पिताको कारागारसे छुड़ाया । तब वसुदेवने श्रीकृष्ण और बलरामका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया, और विद्या पढ़नेके लिए उन्हें उज्जैनमें सन्दीपनि नाम के गुरुकी सेवामें भेजा। श्रीकृष्णने वहाँ १४ विद्याओं का अध्ययन और ६४ कलाओंका अभ्यास किया। विद्या समाप्त कर वे मथुरा लौट आये। किन्तु कंस के श्वसुर जरासन्धने उन्हें शांतिसे न बैठने दिया। उसने मथुरा पर आक्रमण कर दिया। श्रीकृष्णने भी शत्रु का सामना किया और उसे पराजित कर दिया । जरासन्ध फिर आया, और फिर पराजित हुआ। इस प्रकार सत्रह बार पराजित होकर जब वह अठारहवीं बार आया, तब श्रीकृष्ण ने मथुरा-निवासियोंको द्वारका भेज दिया, और स्वयंभी वहीं रहने लगे।

श्रीकृष्णने विदर्भ-राजकी पुत्री रुक्मिणीजीसे विवाह किया। उनके बड़े पुत्रका नाम प्रद्युम्न था । श्रीकृष्णके अस्त्र-शस्त्रोंके भिन्न-भिन्न नाम थे। उनका चक्र सुदर्शन कहलाता था, और गदाका नाम था कौमोदकी। पांचजन्य उनका शंख था और शार्ङ्ग था धनुष। नन्दक उनकी तलवारका नाम था, और म्यानका नाम था शतचन्द्र।

द्वारकाके वैभवमें निवास करने वाले कृष्ण जब अपने भवन से बाहर जाया करते थे, तो उनके रथकी अपूर्व शोभा होती थी। रत्न-जटित होनेके कारण वह सूर्य की किरण पड़नेसे चमचमाता रहता था। उसके चलने पर छोटी-छोटी घण्टियों की झंकार हुआ करती थी। रथमें चार घोड़े होते थे, जिनके नाम थे शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक। रथकी ध्वजा पर गरुड़का चिह्न रहता था। सारथिका नाम था दारुक।

भारतमें जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णने अन्याय और अधर्म देखा, वहाँ जाकर वे उसका उन्मूलन करते रहे। काशीका सुदक्षिण, चेदिका शिशुपाल, प्राग्ज्योतिषका भौम, सौभका शाल्व, करूषके पौंड्रक और दन्तवक्त्र—ऐसेही अनेक दुष्टोंका उन्होंने दमन किया।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्णको सर्वोत्तम सम्मान मिला। अपने युगके उन महामानवमें नम्रता इतनी थी कि उन्होंने उस आयोजन में आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोने का काम स्वयं सँभाला था। यह उनके शीलका द्योतक था।

कौरवों और पांडवोंके युद्धकी हानिसे देशको बचानेके लिए श्रीकृष्ण युधिष्ठरकी ओरसे सन्धिका संदेश लेकर कौरवोंकी सभा में उपस्थित हुए थे। दुर्योधनको उन्होंने बार-बार युद्ध न करने के लिए समझाया, किन्तु उसके न मानने पर, कुरुक्षेत्रके मैदानमें पांडवोंकी सहायता करने के लिये अर्जुनके सारथि बने। रणके भयानक दृश्यको देखकर अर्जुनके मनमें

बड़ी ग्लानि हुई। उस समय श्रीकृष्णने गीता का अमर उपदेश देकर अर्जुनको कर्मयोगमें प्रवृत्त किया।

महाराज युधिष्ठिरके राज्याभिषेक के पश्चात् ३६ वर्ष तक श्रीकृष्ण धरा-धाम पर रहे। उन्होंने १२० वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त की।

श्रीकृष्णका व्यक्तित्व सब प्रकारसे पूर्ण था। शरीरसे वे स्वस्थ और नीरोग थे। देखनेमें वे आकर्षक, श्याम-सुन्दर थे। उनके श्यामल शरीरपर रेशमी पीताम्बरकी निराली ही छटा होती थी। नए खिले हुए कमलके समान कोमल और रतनारे उनके नेत्र थे। मुख-कमल पर मन्द-मन्द मुसकान खेलती रहती थी। कानोंमें मकराकृति कुण्डल, सिर पर किरीट, बाँहों में रत्नजटित केयूर और गलेमें हेम-हार झलका करते थे। उन जैसा सुन्दर पुरुष उन दिनों त्रिलोकीमें नहीं था। युगोंसे उनके उस अनुपम सौन्दर्य और माधुर्य का वर्णन कवि अपने काव्योंमें और कलाकार अपनी कलाओंमें चित्रित करते आ रहे हैं। उसी लोकोत्तर लावण्यको अपने नेत्रोंमें बसानेके लिये लालायित, प्रेममयी मीरा गाया करती थीं—'बसो मेरे नैननमें नँदलाल'।

ललित कलाओंपर श्रीकृष्णका विशेष अधिकार था। गान गाते तो श्रोताओंको मंत्र-मुग्ध कर देते। वंशी बजाते तो गायें भी दौड़ी चली आतीं। बालक-बालिकाओंके संग रास रचाते तो दर्शक देखते ही रह जाते।

श्रीकृष्णको सात्विक भोजन प्रिय था। गीतामें उनकी अपनी व्याख्याके अनुसार सात्विक भोजन वह है जिसके खाने से आयु, बल, आरोग्य और सुखकी वृद्धि हो। ऐसा भोजन रसीला, चिकनाई वाला, बहुत देर तक न बिगड़ने वाला, और हृदय के लिये हित-कारी होता है। सात्त्विक भोजन में गोरस का अर्थात् गाय के दूध से बनने वाले दही, लस्सी, घी, मक्खन आदि पदार्थों का मुख्य स्थान है। श्रीकृष्ण गो-रस के बड़े प्रेमी थे। इसी का यह प्रभाव था कि वे शरीरसे सबल और हृदयसे उदार थे।

जिन गायोंसे श्रीकृष्णको सात्विक गो-रस प्राप्त होता था, उनका वे माताके समान आदर करते थे। वे गायोंको स्नान कराते, अपने हाथसे घास खिलाते और बाँसरी बजाकर उनका मनोविनोद करते। बछड़ों को चरानेके लिये स्वयं वनमें जाते, और कठोर हृदय वाले व्यक्तियोंसे उनकी सदा रक्षा किया करते थे। यमुनाके तट पर जाकर पानी पिलाते। दिन-भर उनकी सेवा करके, सायंकाल घर आते थे। एक दिन कुछ गायें यमुनाके उस कुण्ड का पानी पी गईं, जिसमें एक बड़ा विषधर रहता था। विषैले पानी के प्रभाव से वे मूर्छित होगईं। इससे श्रीकृष्णको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने वीरता पूर्वक उस काले नागको अपने वशमें करके, जल से बाहर कर, अन्यत्र भेज दिया। और इस प्रकार यमुना-तट को गायों के लिये निरापद बना दिया। पास ही एक पर्वत था, जिसकी तलहटी में गायोंको घास चरने की और छोटे-छोटे पहाड़ी कुण्डोंमें पानी पीने की बड़ी सुविधा थी। उसका नामभी गोवर्धन था। गोवर्धन शब्द का अर्थ है गायों का भरण-पोषण करने वाला। श्रीकृष्ण उस पर्वतका बड़ा सम्मान करते थे। वे उसके प्रति इतने कृतज्ञ थे कि एक बार उन्होंने अपने पिता नन्दजी से इन्द्रोत्सव की जगह 'गोवर्धन-उत्सव' ही मनवा दिया। वह उत्सव अभी तक प्रतिवर्ष हमें श्रीकृष्ण के सच्चे गोपाल-भावका स्मरण करा देता है।

श्रीकृष्ण बड़े दीन-दयालु थे। एक दिन मथुरा के राज-मार्ग पर उन्हें एक कुबड़ी दिखाई दी। वह झुक कर चलती थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह कंस महाराज की दासी है, और महाराज को उसीके हाथ का घिसा हुआ चन्दन लगाना पसन्द है। कृष्ण कूबड़ की चिकित्सा करना बाल्यावस्था में ही सीख चुके थे। उन्होंने उसकी दीन-दशा देखकर उसकी चिकित्सा कर दी। अपने दोनों पैरोंसे कुब्जाके दोनों पैरोंको आगे से दबाकर उसकी ठोढ़ी पर श्रीकृष्णने अपनी दो उँगलियाँ रखकर एक झटका दिया। झटका लगते ही कुब्जाका शरीर सीधा हो गया।

मल्ल-विद्या अर्थात् कुश्ती लड़नेमें श्रीकृष्ण बड़े प्रवीण थे। वे ऊँचे दर्जेके पहलवान थे। देखनेमें वे सुन्दर और सुकुमार अवश्य थे, किन्तु उनके पुट्ठों में बल भरा हुआ था, और रगों में था शक्ति का संचार। जब भी कोई दुष्ट दुरात्मा व्रज की निरीह जनताको तंग करने आता, वे खम्भ ठोककर तैयार हो जाते, और पलक मारते ही उसे चारों खाने चित्त कर देते। कंस की सभा में रंग-मंच का आयोजन किया गया था। वहाँ एक दंगल का प्रबन्ध था, जिसमें कंस ने चाणूर और मुष्टिक नामके दो पहलवानोंको उनके साथियों सहित इसलिये नियुक्त कर दिया था कि कृष्ण और बलरामका खेल ही खेल में काम तमाम कर दिया जाय। श्रीकृष्णने अपने बड़े भाईके साथ इस कुश्तीके दंगलमें सम्मिलित होनेके निमंत्रणको सहर्ष स्वीकार कर लिया। मुष्टिक तो बलरामसे भिड़ गया, और चाणूरने श्रीकृष्णके साथ दाँवपेच चलाना आरम्भ किया। बहुत देर तक कुश्ती चली। अवसर पाकर चाणूरने दौड़कर दोनों घूँसों से श्रीकृष्णकी छाती पर प्रहार कर दिया। किन्तु वाह रे श्रीकृष्ण! उनकी छाती थी, या चट्टान? चाणूरकी चोट से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। वैसे ही अडिग खड़े रहे, और अपनी बारी में श्रीकृष्णने चाणूरके दोनों हाथ पकड़कर पहले तो उसे अपने चारों ओर खूब चकफेरी खिलाई, और फिर इतने जोरसे उसे पृथ्वी पर दे पटका कि उसके प्राण-पखेरू ही उड़ गये। उधर बलरामजीने मुष्टिकको घूँसे मार-मार कर मार डाला, और तत्पश्चात् कूट नामक पहलवानको भी शीघ्र ही यमलोक भेज दिया। शल और तोशल नामके दो और पहलवान श्रीकृष्णसे भिड़ गये, किन्तु श्रीकृष्णने उनका तो लात मारकर ही ढेर कर दिया। वास्तव में श्रीकृष्ण अपने समयके अद्वितीय बलवान् और मल्ल-विद्या-विशारद थे।

श्रीकृष्ण तीर चलाने में भी बहुत बढ़े-चढ़े थे। जिस प्रकार महाराज द्रुपद ने द्रौपदीके स्वयंवर में मत्स्य-वेध का आयोजन किया था, उसी प्रकार महाराज बृहत्सेन ने अपनी राजकुमारी लक्ष्मणा के स्वयंवर में किया। द्रुपदने मछली को बाहर से नहीं ढँका था, किन्तु बृहत्सेन ने उसे ढँक भी दिया था। नीचे रक्खे पानी में मछली की छाया को देखते हुए ऊपर की मछलीको तीर चला कर गिराना था। विवाह के लिये आये हुए क्षत्रियों में से कितने ही वहाँ रक्खे हुए धनुष पर डोरी तक न चढ़ा सके। कुछ राजा लोग डोरी को धनुष के दूसरे सिरेसे न बाँध सके। प्रसिद्ध योद्धाओंने डोरी तो चढ़ा ली, किन्तु उन्हें यह पता न चला कि मछली कहाँ है। अर्जुन भी वहाँ थे। उन्होंने मछली को जलकी छाया में देखकर उसकी जगह पहचान ली और निशाना भी लगा दिया, किन्तु वे मछलीको गिरा न सके। उनका तीर मछली को छूता हुआ ही चला गया। सबसे पीछे श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने बड़ी सरलता से धनुष उठा लिया, उस पर डोरी भी चढ़ा ली, और केवल एक बार पानी में मछलीकी परछाइँ देखकर, तीरसे उसे गिरा दिया। श्रीकृष्ण बाण-विद्या में इतने निपुण थे।

श्रीकृष्ण जिस कामको अपने हाथ में लेते थे, उसे बड़े कौशल से पूर्ण करते थे। एक दिन कर्ण और अर्जुनका भयंकर युद्ध हो रहा था और श्रीकृष्ण अर्जुनके रथ का संचालन कर रहे थे। बहुत देर तक लड़ते रहने के पश्चात् कर्ण ने अर्जुनकी गर्दन उड़ा देने के लिये सर्पमुख नाम का एक वाण चलाया। कर्ण के धनुषसे छूटा हुआ वह वाण आकाश में पहुँचते ही प्रज्वलित हो उठा। इसे देखते ही श्रीकृष्णको उसकी भयंकरता का आभास मिल गया। उन्होंने तत्काल रथके घोड़ों को घुटनोंके बल विठा दिया। घोड़ों के झुकनेसे रथ कुछ झुक गया और अर्जुन का सिर भी। कर्ण का वाण बड़े वेगसे आया और अर्जुनके मुकुटको खण्ड-खण्ड कर गया। इस प्रकार श्रीकृष्णके कौशलसे अर्जुनकी गर्दन बच गई।

गीताका ज्ञान अर्जुनको दिया गया था, किन्तु विद्वानोंका ऐसा मत है कि अर्जुनको निमित्त बनाकर मानवमात्र के लिए ही श्रीकृष्णने वह उपदेश दिया था। गीतामें मानवता को कल्याण का मार्ग दिखाया गया है। आत्माकी अमरता और देहकी नश्वरता बता कर उसमें कहा गया है कि आत्मा एक देह के अनन्तर दूसरा देह धारण कर लेता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा मायाके जालसे अपनेको छुड़ाकर परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लेती। राग और द्वेष से बचकर, अपने सुख-दुःखके समान ही अन्य सब प्राणियोंके सुख-दुःखको समझते हुए, फलमें आसक्ति न रखकर, कर्त्तव्य-बुद्धिसे सब काम करते रहना गीता का कर्म-योग हैं, जिसका पालन करनेसे मानवका मन निर्मल होकर ऊँची साधना के योग्य बन जाता है।

राजसूय में पुरुषोत्तमका पद प्राप्त करने वाले श्रीकृष्णने स्वयम् सम्राट बनना नहीं चाहा। परास्त किये हुए शत्रुके राज्यको अपना बना लेना बहुत सरल काम है किन्तु श्रीकृष्णने ऐसा कभी नहीं किया। दृष्टान्तके लिए, कंस का राज्य उसीके पिता उग्रसेनको सौंप दिया, जरासन्धका राज्य उसके पुत्र सहदेवको दे दिया, और शिशुपालके शासन का अधिकार उसके पुत्र धृष्टकेतुके पास ही रहने दिया।

श्रीकृष्णके हृदय में गर्व नहीं था, अपितु प्रजाके प्रति बड़ा सद्भाव का। जब उनके बाल-मित्र अकिंचन सुदामा उनके पास पहुँचे थे, तो उनकी दीन दशा देख कर श्रीकृष्णके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली थी। उन्होंने बिना सुदामाजी से पूछे ही, विश्वकर्मा को भेजकर सुदामाकी कुटी के स्थान पर एक विशाल भवन बनवा दिया था।

श्रीकृष्ण धर्मके सभी अंगोंका दृढ़ताके साथ पालन किया करते थे। उत्तरा के मृत शिशुको जीवित करने के लिये उन्होंने यह कहा था कि "यदि मैंने हास-परिहास में भी कभी असत्य भाषण न किया हो, यदि युद्ध में मैं कभी पीछे न हटा हूँ, और यदि मुझे धर्म प्रिय हो, तो यह नवजात बालक जीवित हो जाय"। भगवान् के ऐसा कहते ही बालक में प्राणों का संचार हो गया। इस बालकका नाम परीक्षित् रक्खा गया था, और महाराज युधिष्ठिरके अनन्तर यही भारतका चक्रवर्त्ती सम्राट् हुआ। यह घटना श्रीकृष्णके धर्म-पालन का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

ऐसे ही अनेकानेक उदात्त सद्गुणोंके कारण भगवान् श्रीकृष्ण शताब्दियोंसे एक आदर्श महामानव के रूप में सम्मानित, समादृत और आराधित होते रहे हैं।

श्रीकृष्णः शरणं मम

"भगवान्के विचित्र प्रपंचमें विचित्र स्वभावके जीवोंका निवास है। इसीलिए श्रीभगवान् भिन्न स्वभाववाले जीवोंकी विभिन्न रुचियोंका अनुसरण करके विभिन्न रूपमें प्रकट होते हैं। किसीका चित्त भगवान्के किसी स्वरूपमें खिंचता है, किसीका किसीमें। वेद-पुराण आदि शास्त्रोंमें सर्वोत्कृष्ट रूपसे प्रतिपादित सभी रूप भगवान्के हैं, अतः जिस रूपमें प्रीति हो, उसी रूपकी उपासना करनी चाहिए।"

इष्टदेवकी उपासना

पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज

शास्त्ररहस्यको जाननेवाले महानुभावोंका कहना है कि शैवग्रन्थोंमें श्रीविष्णुकी और वैष्णव ग्रन्थोंमें श्रीशिवकी जो निन्दा पायी जाती है, वहाँ निन्दाका मुख्य तात्पर्य अन्य देवताकी निन्दामें नहीं है, अपितु वह ग्रन्थ जिस देवताका वर्णन कर रहा है, उसकी प्रशंसामें है। इस पर कोई कहे कि अपने इष्टदेवतामें अनन्यताकी प्राप्तिके लिये उनसे भिन्न देवताकी उपेक्षा अपेक्षित है, और वह उपेक्षा बिना अन्य देवताकी निन्दाके कैसे सिद्ध हो सकती है? इस तरह उस निन्दाका मुख्य तात्पर्य अपने इष्टदेवतासे अन्य देवताकी उपेक्षाके लिये उसकी निन्दामें हो सकता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसने अनन्यताके स्वरूपको ही यथार्थतया समझा नहीं है। क्या अपने एकमात्र इष्टमें ही तत्परताको अनन्यता कहते हैं? किन्तु ऐसी अनन्यता खान-पान आदि लौकिक, एवं सन्ध्या-वन्दनादि वैदिक व्यवहार करने वाले पुरुषमें सम्भव नहीं। यदि कहा जायकि उन लौकिक, वैदिक कर्मोंके द्वारा अपने इष्टदेवकी ही उपासना करनेसे अनन्यता बन जायगी तो फिर जैसे अन्यान्य लौकिक वैदिक कर्मोंके द्वारा अपने इष्टदेवकी उपासनाकी जा सकती है, वैसे ही अन्यदेवताकी पूजा आदिके द्वाराभी अपने इष्टदेवकी उपासना करते हुए अनन्यता बन सकती है। यथार्थमें तो—

वर्णाश्रमवतां राजन् पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

अर्थात् हे राजन्! प्राणी अपने वर्णआश्रमके अनुसार कार्य करते हुये भक्तिद्वारा उस पुरुषोत्तम हरिकी आराधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त भगवान्की प्रसन्नताका और कोई अन्य साधन नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् हे अर्जुन ! भोजन, होम, दान, तपस्या आदि जो कुछ भी करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो ।

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।'

अर्थात् 'मनुष्य अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करके मुक्तिको प्राप्त कर सकता है ।' इत्यादि वचनोंसे शास्त्रोंने अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे ही भगवान्‌की उपासना करना बतलाया है, और श्रौत-स्मार्त कर्मोंमें तो पद-पदपर इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र, प्रजापति आदि देवताओंकी पूजा दिखलायी पड़ती है, ऐसी हालतमें अपनेको वैदिक माननेवाला कोई पुरुष यह कहनेका साहस कैसे कर सकता है कि विष्णुके सिवाय कोई अन्य देवता मेरे लिये पूजनीय नहीं है ? यदि कहा जाय कि वहाँ इन्द्रादि देवताओंके रूपमें भगवान् विष्णुकी ही पूजा होती है, तो इस तरह फिर सभी देवताओंकी पूजा की जा सकती है । जिन कामिनी-कांचन आदि विषयोंकी बड़े-बड़े विवेकी महापुरुषोंने निन्दाकी है, उन्हीं तुच्छ विषयरूप-विषसे भस्मीभूत चित्तवाले और उन्हीं विषयोंकी प्राप्तिके लोभसे वशीभूत होकर, और तो क्या, म्लेच्छोंके चरणोंपर भी मस्तक झुकानेवाले लोग समस्त पाप-समुदायका नाश करनेमें समर्थ श्रीशिव, विष्णु आदिके वन्दनको जब अनन्यताका विघातक कहते हैं, तब बड़ा आश्चर्य होता है; अस्तु इस तरह यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करनेकी बुद्धिसे भगवान्‌के लियेही किये गये समस्त कर्मोंको परमगुरु श्रीभगवान्‌के चरणोंमें समर्पण करनाही यथार्थ अनन्यता है, काशी खण्डके दूसरे अध्यायमें ध्रुवजी श्रीविष्णुसे स्तुतिमें कहते हैं कि—

'हे नारायण ! इस स्थावर जंगमात्मक जगत्‌में आपसे अन्य कुछ भी नहीं है । मित्रोंमें भार्या, सब बन्धुओंमें परम हितैषी, धर्म आपही हैं, माता, पिता, सुहृद्, धन, सौख्य, सम्पत्ति और तो क्या, प्राणेश्वर आपही हैं । कथा वही है, जिसमें आपका नाम हो, मन वही है, जो आपमें अर्पित हो, कर्म वही है, जो आपके लिये किया जाय और वही तपस्या है, जिसमें आपका स्मरण होता रहे । प्राणियोंके उस महामोहको, उस प्रमादिताको देखकर बड़ाही खेद और आश्चर्य होता है, जिससे आपका अनादर करके अन्य विषयोंमें महान् परिश्रम करते हैं । हे भगवान् ! आपसे श्रेष्ठ ऐसा अन्य कोई न धर्म है, न अर्थ है, न काम और न मोक्ष ही । भगवान् वासुदेवका स्मरण न होना ही परम हानि, परम उपद्रव, परम दुर्भाग्य है । परमानन्दकन्द, मधुसूदन, भगवान् गोविन्दको छोड़कर मैं न तो अन्य किसीको जानता ही हूँ, न स्मरण करता हूँ, न भजता हूँ, न नमन करता हूँ, न किसी दूसरेकी स्तुति करता हूँ, न अन्यको आँखसे देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न अन्यत्र कहीं जाता हूँ, न बिना हरि के अन्यका गान करता हूँ ।'

इस प्रकार यह अनन्यता प्रदर्शित की गयी है । तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीवासुदेवकी उपेक्षा करके अन्य देवोंका समाश्रयण करना अभिप्रेत नहीं, अपितु वासुदेव-भावनासे या भगवान्‌की आराधना-बुद्धिसे अन्य देवताओंका भी आदर अवश्य ही करना उचित है, इसीलिये काशीखण्डमें आगे चलकर लिखा है कि श्रीविष्णुकी आज्ञासे ध्रुवने भगवान् श्रीविष्णुके उपास्य श्रीशंकर भगवान्‌की पूजाकी । ध्रुवको वरदान आदि देकर भगवान् श्रीविष्णु ने उनसे कहा—

"हे ध्रुव ! तुम महामति हो, सावधान होकर सुनो । मैं तुम्हारे हितकी बात करता हूँ, जिससे तुम्हारा स्थान अत्यंत अचल हो जायगा । मोक्षदाता साक्षात् भगवान् श्रीविश्वनाथजी जहाँ निवास करते हैं, उस परम पवित्र काशीपुरीको मैं जाना चाहता हूँ, जिस काशीमें स्वयं श्रीविश्वेश्वर भगवान् मृत प्राणियोंके कानमें उस मंत्रका उपदेश करते हैं, जिससे उन प्राणियोंके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, सभी तरहके उपद्रवोंको देनेवाले इस तुच्छ संसार रूपी दुःखको दूर करनेका यह—आनन्दभूमि काशी ही एक उपाय है । दुःख रूपी महान् वृक्षका बीज विषयोंमें समीचीनता-असमीचीनता बुद्धि है । काशीरूप अग्नि जब उस बीजको भस्मीभूत कर डालता है, तब दुःखस्वरूप महावृक्ष ही कैसे उत्पन्न हो सकता है, जिससे समस्त अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त किया जा सकता है । और जहाँ जाने पर फिर शोक संतापका भय नहीं रह जाता, ऐसे वैकुण्ठसे श्रीविश्वनाथकी पूजा करने के लिये मैं नित्यनियमपूर्वक उस जगद्वन्द्य काशीमें आया करता हूँ । तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ मायाकी जो परम शक्ति है, उसको देने वाले सुदर्शनचक्रके दाता श्रीविश्वनाथ ही हैं । पूर्वकालमें जालन्धर नामक एक दैत्य हुआ था, जिसके पराक्रमसे मैं भी भयभीत हो गया था, किन्तु भगवान् श्रीशंकरने अपने अँगूठेके अग्रभागसे चक्र बनाकर उससे जालन्धरको मार डाला था । अपने नेत्र-कमलोंसे भगवान् शंकरकी पूजा करके मैंने वही चक्र उनसे प्राप्त किया । दैत्य-समुदायका मर्दन करने वाला वही यह सुदर्शन-चक्र मेरे पास है । समस्त दुष्ट-प्राणियोंको भगानेवाले उस सुदर्शन-चक्रको तुम्हारी रक्षाके लिये आगे भेजकर मैं यहाँ आया हूँ । अब इस समय श्रीविश्वनाथका दर्शन करने के लिये मैं काशीकी ओर चल रहा हूँ ।" उसके बाद पंचकाशीकी सीमाके पास पहुँचकर वे गरुड़से नीचे उतरे और उन्होंने ध्रुवका हाथ पकड़कर मणिकर्णिकामें स्नान किया, फिर श्रीविश्वनाथका पूजन करके ध्रुवके हितकी कामना से कहा—

'हे ध्रुव ! तुम इस अविमुक्त वाराणसी क्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक भगवान्के लिंगकी स्थापना करो, इससे त्रैलोक्य-स्थापन करनेका अक्षय पुण्य तुम्हें प्राप्त होगा ।'

ऐसे इस गम्भीर शास्त्रीय अभिप्रायको न समझकर शैव, वैष्णव नामधारी पाखण्डसे नष्टबुद्धि मायामोहित जन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमें भेदभाव देखते हैं । यह नहीं जान पाते कि वे तीनों एक ही सच्चिदानन्दघन पूर्ण अद्वितीय तत्व हैं ।

ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः ।
पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाखण्डोपहता जनाः ॥

वे ऐसे सैकड़ों शास्त्र-वचनोंसे उपदेश किये गये अभेदको नहीं देखते । इस बातकी उपेक्षा करते हैं कि एक ही परमकारण तत्व अनेक रूपमें विराजमान है । उन परमेश्वरके अनेक रूपोंमेंसे किसी एक को लेकर दूसरे रूपोंकी निन्दा करते हुए, आपसमें कलह करते हैं । ऐसा करके मानो अपने उसी आराध्य भगवान्से ही द्रोह करके नरकमें जानेकी तैयारी करते हैं ।

एक दूसरेपर अनन्य प्रीति करनेवाले दो मालिकोंके नौकर यदि एक-दूसरेके स्वामीकी निन्दा करें तो वे दोनों जैसे स्वामीद्रोही ही कहे जाते हैं, वैसेही एक दूसरेके आत्मा और

एक दूसरेके ध्यानमें निमग्न माधव श्रीविष्णु और उमा-धव श्रीशिवकी निन्दा करनेवाले स्वामिद्रोही ही हैं ।

कोई जिज्ञासु ऐसा प्रश्न कर सकता है कि भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओंमें से किसकी उपासना करनी चाहिए ? कोई किसीको निकृष्ट, किसी को बड़ा तथा अन्य किसीको उपास्य बतलाता है । ऐसी स्थितिमें बुद्धि व्याकुल हो जाती है । इसका उत्तर यही हो सकता है, कि भगवान्के विचित्र प्रपंचमें विचित्र स्वभावके जीवोंका निवास है । इसीलिए श्रीभगवान् भिन्न स्वभाववाले जीवोंकी विभिन्न रुचियोंका अनुसरण करके विभिन्न रूपमें प्रकट होते हैं । किसीका चित्त भगवान्के किसी स्वरूपमें खिंचता है, किसीका किसीमें । वेद, पुराण आदि शास्त्रोंमें सर्वोत्कृष्ट रूपसे प्रतिपादित सभी रूप भगवान्के ही हैं, अतः जिस रूपमें प्रीति हो, उसी रूपकी उपासना करनी चाहिए । अनभिज्ञ लोग एककी निन्दा और दूसरे रूपकी प्रशंसा करते हैं । अभिज्ञ तो सभी रूपमें अपने प्रभुको ही देखकर सन्तुष्ट होते हैं । जैसे कोई व्यक्ति अनेक विद्याओंमें निपुण होने के कारण अपने अनेक वेष और नामों से अनेक कार्य करता हो । भिन्न-भिन्न कार्यार्थी पृथक् वेष और नामवाले रूपके अनुरागी हों और उसे ही सर्वोत्कृष्ट समझने लगें । दूसरे लोग दूसरे वेष और नाम वाले रूपके अनुरागी हों । उनमें कुछ लोग किसी रूपके प्रशंसक हों और कुछ किसीके निन्दक हों, इसलिए परस्पर युद्ध होने लगे, वहाँ जो लोग वस्तु-स्थिति को जाननेवाले होंगे, वे तो दोनों ही विवादी दलों की मूर्खता पर परिहास करेंगे, क्योंकि वे दोनों वेषोंमें एक ही तत्वको देखते हैं ।

योगवासिष्ठके विपश्चिदाख्यानमें मृगरूपसे समागत 'विपश्चित्'को देखकर श्रीवसिष्ठजीने यही विचार किया था कि जिस व्यक्तिका जो स्वरूप कभी भी उपास्य हो, उसका कल्याण उसके ही द्वारा सुगम होता है, यह समझकर करोड़ों जन्मके पहले अग्निकी उपासना करनेवाले मृगरूप विपश्चित्के सामने अपने योगबलसे उन्होंने अपने अग्निका प्राकट्य किया । अग्निका दर्शन होते ही वह मृग ऐसी स्नेह भरी दृष्टिसे अग्निको देखने लगा, जैसे अग्निके साथ उसका कोई बहुत पुराना सम्बन्ध हो । अनन्तर वसिष्ठजीकी कृपासे उसका कल्याण हुआ । अस्तु, प्रकृतमें कहना यही है कि स्वप्नदर्शन तथा माहात्म्यश्रवण आदिसे चित्तका आकर्षण देखकर अपने इष्टदेवका निर्णय करना चाहिए । यह स्पष्ट है कि अनेक जन्मके साधनोंसे प्राणीकी उपासनामें उन्नति होती है । जन्म-जन्ममें मार्ग परिवर्तन करनेसे यथेष्ट लाभ सम्भव नहीं है । अतः पूर्वकी उपासनाके संस्कारका ज्ञान करके उसी उपासनामें प्रवृत्त होना चाहिए । पितृ-पितामह परम्पराकी उपासनाओंके अनुसार ही प्राणीको उपासना करनी चाहिए । वर्तमान जन्मकी सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्तिमें पिछले जन्मोंके संस्कार भी अपेक्षित होते हैं । यदि किसीको दुर्दैववश किसी ऐसे कालमें ऐसे माता-पिता, गुरुजनों तथा ग्रन्थोंका संसर्ग हुआ कि जिनसे दुराचार-दुर्विचारको ही उत्तेजना मिली, तो उस व्यक्तिके लिये दुःसंग और असद् विचारवाले शास्त्रोंको छोड़कर सत्पुरुषसंग, सच्छास्त्रके अभ्यास एवं तदनुसार सदाचार सद्विचारके सम्पादनमें बड़ी कठिनाई पड़ती है । जिसे पूर्व संस्कारके अनुसार शुद्ध विचारवाले देश, काल तथा माता-पिता-गुरुजनोंका संयोग प्राप्त हुआ और सच्छास्त्र, ही अध्ययन करनेको मिले, उसके लिये सदाचार-सद्विचारकी बुद्धिमें बड़ी सहायता मिलती है । इसीलिये प्रायः सन्मार्गस्थ सदाचारीको उसकी भावना और उपासनाके अनुसार

ही समीचीन देश-काल और माता-पिता तथा शास्त्रोंका संसर्ग मिलता है। इस बातकी इंगना श्रीभगवान्ने 'शुचिनांश्रीमतां गेहे' अथवा 'योगिनामेव कुले भवति धीमताम्', 'पूर्वाभ्या-सेन कौन्तेय ह्रियते ह्यवशोपि सः' इत्यादि बचनोंसे की है। इसीलिये यह बहुत सम्भव है कि हमारी उपासनाके अनुकूल ही कुलमें हमारा जन्म हुआ हो। अतः हमें माता-पिता-गुरुजनोंके अनुसार ही उपासना करनी चाहिए।

यों भी इस बातको समझनेमें सुगमता होगी कि जैसे कोई पुरुष किसी अपरिचित मार्ग से किसी अभीष्ट देशमें जा रहा हो, आगे चलकर उसे तीन मार्ग दिखाई दें और तीनों पर कुछ लोग चल रहे हों, प्रश्न करने पर सभी अपने मार्गको ही निर्विघ्न वतलाते हों, साथ ही दूसरे मार्गों को नाना प्रकारके सिंह-व्याघ्र-सर्प-वृश्चिक-कण्टकाकीर्णगर्तोंसे उपद्रुत वतलाते हों, ऐसी स्थितिमें यदि जाना आवश्यक ही हो तो वह प्राणी किसी मार्गका अवलम्बन करेगा। समझदार तो यही कहेंगे, कि उन मार्गानुगामियोंमें से अधिक विश्वास उन्हीं पर किया जा सकता है, जो अपने राष्ट्र-प्रान्त नगर तथा ग्राम के हों या अपने कुटुम्बियोंमें से हों; यह वात दूसरी हैकि जब बहुत विशिष्ट अनुभवोंसे उस मार्गके दूषित तथा मार्गान्तरके निर्विघ्न होने की बात निश्चित हो गयी हो—तब किसी दूसरे मार्गका अवलम्बन किया जाय।

इसलिये भी अपनी पितृ-पितामह परम्परामें जो उपासना और आचार तथा शास्त्र मान्य हो, वही उचित है। वेदने भी 'किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरावुपावतुः' इस वाक्य से परम्परा-गत आचारका समर्थन किया है। श्रीनीलकण्ठजीने इसका यही अभिप्राय बतलाया है, कि पुत्रके हितके लिये माता-पितामह प्रभृतिने जिस व्रतका पालन या जिस देवताका उपासन किया हो, उस पुत्रके लिये उसी व्रत या देवताका अवलम्बन करना चाहिये। ऐसे ही सम्प्रदाय भेदसे भस्म, गोपीचन्दन आदिकी भी व्यवस्था वतलायी गयी है, उसमें भी यह व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय है कि स्नान करके मृत्तिका और होम करके भस्मका देवपूजनके पश्चात् चन्दन आदि लगाया जाय, क्योंकि भस्म वैदिकोंके लिये किसी अवस्थामें त्याज्य नहीं हो सकता।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यद्यपि इस तरहसे किसीभी देवताका आराधन, भस्म, रुद्राक्ष, गोपीचन्दन आदिका धारण संगत मालूम होता है तथापि साम्प्रदायिक लोगों की बातें सुनकर तो जी घवराता है। कोई शिवजीके भस्म तथा रुद्राक्षके निन्दनमें सहस्त्रों वचन उपस्थित करते हैं, तो कोई विष्णु तथा गोपीचन्दनादिके निन्दनमें सहस्त्रों वचन देते हैं। इसका क्या आशय है? उनको यही उत्तर दिया जा सकता है कि कुछ वचन तो निन्दामें तात्पर्य न रखकर एक की स्तुतिमें ही तात्पर्य रखते हैं, जैसे शैवोंकी शिवमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिये विष्णुके निन्दा सूचक और विष्णुमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिये शिवके निन्दापरक वचन कहे जा सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी वचन हैं, जिनका सिवा राग-द्वेषके और कोई मूल ही नहीं हो सकता। बहुतसे पुराण साम्प्रदायिकों के कलहोंमें बिगाड़े गये। इसीलिये तो गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> हरित भूमि तृण संकुल, सूझि परै नहिं पंथ।
> जिमि पाखंड विवाद ते, लुप्त भये सद्‌ग्रंथ॥

ऐसे ही यह भी प्रश्न होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके आचार एवं व्यवहार प्रचलित हैं, उन-उन सम्प्रदायोंमें कहा यह जाता है कि बिना इन आचारोंके प्राणी का कल्याण हो ही नहीं सकता। चाहे कितना भी वैदिक शुद्ध ब्राह्मण क्यों न हो, परन्तु इन आचारोंके विना उसके हाथसे जलभी अग्राह्य है। ऐसे ही दूसरे साम्प्रदायिक अपने आचारोंके विषयमें भी उपर्युक्त बात ही कहते हैं। जिस आचारसे एक सम्प्रदाय परम-कल्याण करता है, उसी आचारसे दूसरा सम्प्रदाय सर्वथा पतन बतलाता है। एक वैसे आचार-विहीन दर्शनसे प्रायश्चित बतलाते हैं, तो दूसरे उसी आचारयुक्त वालेके दर्शनसे प्रायश्चित बतलाते हैं, इसका यही उत्तर देना ठीक है कि जिनके सम्प्रदायमें जो आचार प्रचलित है, उसीके लिए उक्त उपदेश ठीक है और जिसके पितृ-पितामहादिमें जो आचार नहीं है, उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिए। विवादका मूल यही है कि लोग दूसरे सम्प्रदाय तथा आचार्योंकी निन्दा करके अपने सम्प्रदायके आचारों एवं सिद्धान्तोंको स्वीकार कराना चाहते हैं और जब वैसा ही दूसरे लोग करते हैं, तब क्षुब्ध होते हैं। वे—

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखम्" भगवान्‌के इन भावोंको भूल जाते हैं।

लोगोंको इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि जैसे कोई हमारे साम्प्रदायिक व्यक्तिको अपने सम्प्रदायमें मिलाता है, तो हमें क्षोभ होता है, वैसे ही यदि हमभी दूसरे सम्प्रदायके व्यक्तिको अपनेमें मिलायेंगे तो अन्य लोगोंको भी वैसे ही क्षोभ होगा। परन्तु प्रायः देखते-देखते कितने स्मार्त भिन्न सम्प्रदायोंमें मिला लिये जाते हैं। साथ ही कहीं-कहीं कोई साम्प्रदायिक भी स्मार्त बना लिये जाते हैं। यही राग-द्वेष का मूल इतना बद्धमूल हो गया है कि हिन्दू मुसलमानोंसे भी कहीं अधिक घनिष्ठ संघर्ष साम्प्रदायिकोंमें दृष्टिगोचर होता है।

वेदान्त-वेद्य, पूर्ण परब्रह्म भगवान् ही सकल सच्छास्त्रोंके महातात्पर्यके विषय हैं और यही वर्णाश्रमानुसार सर्व कर्म धर्मसे समर्हणीय हैं। इनका अपरोक्षसाक्षात्कार ही जीवनका चरम फल है। परन्तु प्रथमसे ही प्राणियोंका मन इन परम दुरवग्राह्य भगवान्‌के मनोवचनातीत स्वरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता, अतः परम करुण प्रभु भक्तानुग्रहार्थ ही अपने अनेक प्रकार के मंगलमय स्वरूपको धारण करते हैं।

उपनिषदोंमें दहर-विद्या, शांडिल्य-विद्या, वैश्वानर-विद्याओंके रूपमें इनकीही अनेक सगुण उपासनाएं विस्तीर्ण हैं। यही भगवान् विघ्नराज गणेशके रूपमें ऋद्धि-सिद्धि आदि निज शक्तियों सहित आराधित होकर भक्तोंका सर्वविघ्न-निवारण, सर्वअभीष्ट-सम्पादनपूर्वक स्व-स्वरूप साक्षात्कार कराकर परमगति देते हैं और यही विश्वचक्षु भगवान् भास्करके रूपमें उपास्य होकर सर्व-रोग-निवारण पूर्वक अपने पारमार्थिक विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार कराकर भव-रोगसे मुक्तकर देते हैं। ऐसे ही यही वेदान्तवेद्य शुद्ध भगवान् अविद्या-शक्ति-प्रधान होकर प्रपंचका निर्माण करते हैं, विद्या शक्ति प्रधान होकर मोक्ष प्रदान करते हैं और अनन्त अखंड विशुद्ध चितिशक्ति रूपसे सर्व हृदयके अधिष्ठान रूप विराजमान होते हैं। वही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि रूपमें उपास्य होकर सर्वमुक्ति-भुक्ति

प्रदायक होते हैं। वही विशुद्धब्रह्म, भूतभावन भगवान्, विश्वनाथ, श्रीविष्णु, नृसिंह एवं श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द-रूप में उपासित होकर सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं।

अस्तु, इन सभी स्वरूपोंकी गायत्र्यादि वैदिक मन्त्रों एवं वर्णाश्रमानुसार श्रोत-स्मार्त कर्मों द्वाराकी गयी उपासना मुख्य है। वेद-शास्त्रोक्त स्वधर्म कर्मके अनुष्ठानके बिना पाशविकी उच्छृंखल चेष्टाओंका अन्त नहीं होता। बिना श्रोत-स्मार्त श्रृंखलानिबद्ध चेष्टाओंके इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदिका नियंत्रण असम्भव है, और बिना सर्व करण-रोधके अदृश्य विशुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार भी असम्भव है। अतः श्रोत-स्मार्त-कर्म द्वारा ही परमेश्वरका मुख्य आराधन होता है।

इसी विशुद्ध वैदिक धर्मका बौद्ध आदि अवैदिक एवं वैदिकाभासों द्वारा विप्लव होने पर भगवान् शंकराचार्यने अवतीर्ण होकर उसे पुनः प्रतिष्ठापित किया है। श्रीविद्यारण्य प्रभृति विद्वानोंने तथा अन्यान्य प्राचीन-अर्वाचीन सन्तोंने भी इस मतका पोषण किया है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदासने भी इसी परम उदार सिद्धान्तका पोषण किया है। उसमें तीनों वर्णोंके लिये गायत्री मुख्य उपास्य है। जिनके लिये गायत्रीका अधिकार नहीं है, उन अवैदिकोंके लिये अवैदिकी उपासनाएं हैं। जो गायत्री मन्त्रके अधिकारी त्रैवर्णिक वैदिक संस्कार सम्पन्न हों, उन्हें यदि गायत्री में परितोष न हो तो, विष्णु, शिव आदि देवताओंका, विष्णु, शिव आदि मन्त्रोंसे आराधन कर सकते हैं। वैदिक संस्कार-सम्पन्न होनेके कारण इन मन्त्रों में उनका अधिकार सहज सिद्ध है, अर्थात् विष्णु, शिव, सूर्य तथा शक्ति इन पंच देवताओंकी, किंवा अन्य सगुण एवं निर्गुण ब्रह्मकी उपासना गायत्री द्वारा ही पूर्ण सुसम्पन्न हो सकती है और इसके सिवा वैदिक शिव, विष्णु आदि मन्त्रोंसे भी तत्तत् उपासनाएं हो सकती हैं।

इन समस्त वैदिकी उपासनाओंमें वर्णाश्रमानुसार श्रोत-स्मार्त धर्मका अनुष्ठानभी परमावश्यक है। वेदने उपासना-विहीन कर्मोंको स्वप्रकाश ब्रह्मकी अपेक्षा स्वर्गादि तुच्छ फलके देनेवाले होनेसे अन्धतमकी प्राप्तिके कारण कहे हैं। परन्तु कर्मविहीन उपासनाओंसे तो घोर अन्धतमकी प्राप्ति कही गयी है, क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान बिना इष्टमें चित्तकी एकाग्रता रूप उपासना भी सम्पन्न न हो सकेगी।

स्वधर्म भ्रष्टके लिए कहा गया है कि चाहे कितना भी श्रीहरिकी भक्ति, किंवा ध्यानमें तत्पर क्यों न हो, परन्तु यदि आश्रम के आचारोंसे भ्रष्टहै तो वह पतित ही कहा जाता है। यथा—

"हरिभक्तिपरो वापि, हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात्, पतितः सोऽभिधीयते॥"

—बृहन्नारदीय

अतः चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, सबको वेद शास्त्रोक्त धर्मका अनुष्ठान आवश्यक है। द्विजोंके जो आचार-व्यवहार चिह्न हैं, वे सभी उसको अत्यन्त आदरणीय होने चाहिए।

कोई जिज्ञासु यह पूछ सकता है कि कुछ शैव तथा वैष्णवोंका कहना है कि गायत्री, यज्ञोपवीत एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि धर्म शैव या वैष्णवके लिए गौण हैं, उनके लिए तो अष्टाक्षर, पन्चाक्षरादि मन्त्र हीका अत्यन्त प्रावान्य होना चाहिए। वेद-शास्त्र तथा तदुक्त वर्णाश्रम धर्मके बिना भी केवल शैव एवं वैष्णव धर्मसे उनका कल्याण हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि विष्णुमन्त्रादि प्राणि कल्याणके साधन रूपमें आदरणीय हैं, तथापि वैष्णवतादिसे द्विजत्व ही अधिक प्रबल है, क्योंकि द्विजत्व परमेश्वर-दत्त है। शैवत्व आदि प्राणि संपादित हैं, अतः वैष्णवतादिके निमित्तसे होने वाले धर्मोका सम्मान अवश्य करना चाहिए। परन्तु परमेश्वर-दत्त द्विजत्वकी रक्षाका भी ध्यान रखना परमावश्यक है। द्विजत्व की अभिव्यक्ति यज्ञोपवीत, भस्म एवं शिखासे होती है, वैष्णवताकी अभिव्यक्ति कण्ठी, गोपीचन्दनादिसे होती है। वैष्णवताके चिह्नोंका तिरस्कार अत्यन्त असंगत है। इसलिये वैदिकोंके गृहमें वैष्णवताको द्विजत्वसे अविरुद्ध होकर ही रहना चाहिए। अवैदिकोंके यहां यथारुचि व्यक्त लिंगोंसे वैष्णवता भले ही रहे।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि शैव, वैष्णव, शाक्त इन सभी सम्प्रदायोंमें प्रधान रूपसे दो भेदहो गये हैं—एक वैदिक दूसरा अवैदिक। वैदिकोंके यहाँ वेद तथा वेदोक्त कर्म एवं तदनुसार लिंगोंका प्राधान्य होता है और तद्विरुद्ध प्रकारसे हीं विष्णु, शिव आदि देवताओंकी उपासना होती है तथा सभी देवताओं का सम्मान होता हैं।

इन वैदिकोंमें किसी दूसरे देवताकी निन्दा करना पाप समझा जाता है। पर अवैदिक वैष्णवों तथा शैवोंके यहाँ वेद या तदुक्त धर्म-कर्म तथा तदनुकूल लिंगोंका कोई सम्मान नहीं, केवल साम्प्रदायिक आगमतन्त्रादिके अनुसार आचार एवं चिह्नोंका ही अधिक सम्मान है।

द्विजके लिए वैदिक-चिह्नोंका तिरस्कार अयुक्त है, शैवत्व या वैष्णवत्व पितृ परम्परासे नियत नहीं है। वैदिक लोगोंका तो यही कहना है कि जिस पुत्रके कल्याणके लिये उसके पिता, माता, पितामह, प्रपितामह आदिने जिस व्रत या देवताका आराधन किया हो, उस पुत्रके कल्याणका मूल वही व्रत एवं उसी देवताका आराधन है। ऐसी व्यवस्था माननेसे राग-द्वेष भी मिट सकते हैं। अतः जिसकी मातृ-पितृ-परम्परामें जिस देवताका आराधन प्रचलित हो उसे उसी देवताके आराधनमें तत्पर होना चाहिए।

'आराधना' करना मनुष्यका परम धर्म है। यदि अराधनाके पथ पर सतत चलने से भी प्रभु कृपा प्राप्त न होती हो, तो यह न सोचो कि प्रभु कृपालु नहीं हैं, वरन् यह सोचो कि तुम ऐसे चित्तसे आराधना कर रहे हो, जिसके भीतर अहंकार है। जब तक अहांकरका त्याग न करोगे, प्रभु-कृपा कदापि प्राप्य न होगी। ज्ञानेश्वर

"यदि इस मनुष्य-शरीरमें परब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है, किन्तु इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया, तो महान् विनाश (हानि) है।"

आराधना, निगुर्ण-निराकार परमात्माकी

ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका

हमलोगोंको यह मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है, किन्तु जो मनुष्य इसे परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें न लगाकर संसारके विषय भोगोंमें ही लगा देता है, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रजाजनोंको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथहि गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा।
सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा० च० मा० उत्तर० ४२। ४। ३३)

श्रुति भी कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केन० २। ५ का पूर्वार्ध)

"यदि इस मनुष्य-शरीरमें परब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है, किन्तु यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश (हानि) है।"

इसलिये शरीर, संसार और ब्रह्मलोक तकके भोगोंको विवेक द्वारा क्षणभंगुर, नाशवान्, स्वप्नवत् समझकर इनका वैराग्यपूर्वक त्याग करके उपरत हो जाना चाहिए। यह कार्य शरीरके रहते-रहते ही महापुरुषोंके उपदेशके अनुसार शीघ्र बना लेना परम आवश्यक है। यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १। ३। १४)

'उठो जागो (सावधान होजाओ) और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनके द्वारा उस परमात्माको जानलो, क्योंकि त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन उस परमात्माकी प्राप्तिके मार्गको छूरेकी तीक्ष्णकी हुई दुस्तर धारके समान दुर्गम बतलाते हैं।'

यद्यपि निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासनाका मार्ग कठिन है, तथापि भगवान्‌ने देहाभिमानसे रहित पुरुषके लिये उसे सुगम बतलाया है (देखिये गीता ६ । २८)। इसलिये साधकको देहाभिमानसे रहित हो उस परम दुर्लभ परमात्मतत्वका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । अब उपासनाके लिये निर्गुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

निर्गुण-निराकार ब्रह्मका स्वरूप जो जाननेमें आता है, उसको ज्ञेय कहते हैं, किन्तु उस जाननेका जो फल (परिणाम) है, वही ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप है ।

भगवान् कहते हैं—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परंब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(गीता १३ । १२)

'जो जाननेयोग्य ब्रह्मका स्वरूप है, उसको भलीभाँति कहूंगा । जिसको जानकर मनुष्य परमानन्द स्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है, वह अनादि वाला परब्रह्म न सत् ही कहाजाता है, न असत् ही ।'

वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप सत् और असत्से परे है। उसका वाणीके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन वाणीकी वहां पहुँच ही नहीं है ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥
(तैत्तिरीयोप० २ । ४ । १)

'जहांसे मनके सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर वापस लौट आती हैं, उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भय नहीं करता ।'

वह आननन्दमय ब्रह्मका स्वरूप स्थिर, सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिके द्वारा ही जाना जा सकता है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ० १ । ३ । १२)

'यह सबका आत्मरूप परम पुरुष परमात्मा समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्म तत्वोंको समझनेवाले पुरुषों के द्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे देखा जाता है ।'

गीतामें भी कहा गया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ।।

(६ । २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ।'

उस परब्रह्मको जाननेके पश्चात् जाननेवाला पुरुष उस आनन्दमय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।

(मुण्डक० ३ । २ । ९)

'जो कोई भी उस परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा परब्रह्म परमात्मा हो जाता है ।'

किंतु जाननेके समय जाननेमें आनेवाला जो ब्रह्मका स्वरूप है, वह बुद्धिमिश्रित ही ब्रह्मका स्वरूप है, क्योंकि बुद्धिमिश्रित ब्रह्मको ही बुद्धिके द्वारा जाना जा सकता है । जो केवल चिन्मय आनन्द है, वहां जड़ बुद्धि की पहुँच ही नहीं है । ऐसा होनेपर भी वह नहीं है, ऐसी बात नहीं है, वह है अवश्य, क्योंकि उसीकी सत्तासे सबकी सत्ता है तथा वही सबका अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है । ब्रह्मसूत्रमें बताया गया है—

जन्माद्यस्य यतः । (१ । १ । २)

'इस जगत्के जन्म आदि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है ।'

वह ब्रह्म सत् होते हुए भी लौकिक, जो सत्-असत् बुद्धिके द्वारा समझमें आता है, उससे बहुत विलक्षण है, इसीलिये यह बात कही गयी कि—

'न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता १३ । १२ का चौथा चरण)

'वह परब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही, क्योंकि बुद्धिके द्वारा जो सत्ता समझमें आती है, वह ब्रह्मका बुद्धिसे मिश्रित ही सत्स्वरूप है ।'

इसी प्रकार वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप होते हुए भी ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे अत्यन्त विलक्षण है । बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान है और जो उससे विपरीत है, वह अज्ञान है । इनको ही विद्या और अविद्या कहते हैं । ये सभी जड़ हैं, किन्तु परमात्मा चेतन है । भगवान्‌ने कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

(गीता १३ । १७)

'वह परब्रह्म ज्योतियोंकी भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्वज्ञानसे प्राप्त करने योग्य है और सबके हृदयमें विशेष रूपसे स्थित है।

महाभारतमें राजा धृतराष्ट्रसे सनत्सुजात ऋषिने कहा है—

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः।
तद् वै देवा उपासन्ते तस्मात् सूर्यो विराजते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥

(महा० उद्योग० ४६।१)

राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एव विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं।

अभिप्राय यह है कि वह ज्ञान अज्ञान दोंनोंसे अत्यन्त विलक्षण चिन्मय बोध (ज्ञान) स्वरूप है। वह सबको जानता है, उसको कोई नहीं जानता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७।२६)

"हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सारे प्राणियोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता। क्योंकि वह किसीकी बुद्धिका विषय नहीं है।

वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर भी निर्लेप है और कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३।३१)

"हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होने पर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है, और न लिप्त ही होता है।"

उस परमात्माके स्वरूपका विशेष लक्ष्य करानेके लिये और भी कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं, दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(गीता १३।१५)

"वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचर रूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूर में भी स्थित वही है।"

जैसे आकाश बादलोंके भीतर है और बाहर भी है, उसी प्रकार परमात्मा संसारके भीतर भी है और बाहर भी है तथा बादल भी आकाश है, क्योंकि आकाशसे ही बादल उत्पन्न होते हैं—

आकाशद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः ।

(तैत्तिरीय० २।१)

"आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, और अग्निसे जल उत्पन्न हुए । तथा जल ही मेघ हैं। अतः जैसे आकाश ही बादल बनता है, इसी प्रकार वह परमात्मा ही अपने संकल्पसे चराचर संसारका रूप धारण करता है ।

सो कामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति ।

(तैत्तिरीय० ।२६)

"उस परमात्माने संकल्प किया कि मैं बहुत रूप धारण करके प्रकट होऊँ ।

इसीलिये—

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

"बुद्धिमान् मनुष्य प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें) परब्रह्म परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाणकरके अमर हो जाते हैं ।"

वह परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर होनेसे किसीका विषय नहीं हो सकता, इसलिये उसको सूक्ष्म एवं सूक्ष्म होनेके कारणही अविज्ञेय बतलाया गया है । श्रुति कहती है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

(कठ० १।२।२० का पूर्वार्ध)

"इस जीवात्माके हृदयरूप गुफामें रहनेवाला परमात्मा सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान है ।"

श्रीसनत्सुजात ऋषिने भी कहा है—

अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ॥

(महा० उद्योग० ४२।२९ का उत्तरार्ध)

"वह परमात्माका स्वरूप छूरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महान है ।"

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ॥

(महा० उद्योग० ४६।३१ का पूर्वार्ध)

'परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है । वही सब भूतोंमें प्रकाशित है।"

वह परमात्मा देश, काल, वस्तु और भावसे दूरसे दूर और निकटसे निकट है । जैसे देशकी दूरीका विचार करें तो पृथ्वीसे परे जल है, जलसे परे तेज, तेज से परे वायु, वायुसे परे आकाश, आकाशसे परे समष्टि अहंकार, समष्टि अहंकारसे परे महत्तत्व, महत्तत्व से परेअव्याकृत माया (मूल प्रकृति) और उससेभी परे परमात्मा है । परमात्मासे परे कुछ भी नहीं है । इससे वह परेसे भी पर है ।

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठ० १।३।११ का उत्तरार्ध)

"पुरुष से पर और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा (हद) है, वही परागति है।"

देशकी निकटता का विचार करें तो यह पाञ्चभौतिक शरीर (अन्नमय कोश) अन्य सारे बाह्य पदार्थोंसे निकट है। उससे निकट प्राण (प्राणमय-कोश) है, उस प्राणसे और निकट इन्द्रियां हैं, इन्द्रियोंसे निकटमन (मनोमय कोश) है, उससे निकट बुद्धि (बुद्धिमय कोश) है, उससे निकट अव्याकृत माया (आनन्दमय कोश) है। उससे भी निकट अपना स्वरूप-अपना आत्मा है। आत्मासे निकट कोई नहीं है और वह परमात्मा ही सबका आत्मा है।

भगवान्‌ने कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

(गीता १०।२० का पूर्वार्ध)

"हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूं।' इसलिये वह परमात्मा दूरसेदूर निकटसे निकट है। अब कालके विषयमें विचार करें। काल तीन हैं—भूत, भविष्य वर्तमान। वर्तमानकाल निकटसे निकट है। वह परमात्मा नित्य होनेसे वर्तमानमें है ही तथा संसारमें दूरसे दूर भूत और भविष्यकाल हैं। भूतकालमें तो जब कोई नहीं था तब भी परमात्मा थे ही—

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

(छान्दोग्य० ६।२।१)

"हे सौम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् परमात्मा ही था।" एवं भविष्यमें जब कोई नहीं रहेगा, तब भी परमात्मा रहेंगे ही; क्योंकि यमराजने नचिकेतासे बतलाया है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥

(कठ० १।२।२५)

(सहारकालमें) जिस परमात्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र भोजन बन जाते हैं तथा सबका संहार करनेवाली मृत्यु यानी कालभी जिसका उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यंजन तरकारी आदि) बन जाता है, वह परमात्मा जहाँ और जैसा है, यह ठीक-ठीक कौन जानता है। श्रीसनत्सुजात ऋषि भी कहते हैं—

अपारणीयं तमसः परस्तात् तदन्तकोऽप्येति विनाश काले।

(महा० उद्योग० ३४।२९ का पूर्वार्ध)

"ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञान रूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है।"

परमात्मा ही इस जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण होनेसे सारा संसार वस्तुसे भी परमात्मा का ही स्वरूप है। भगवान् कहते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(गीता १३।३०)

"जिस क्षण या पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्तहो जाता है ।"

श्रीसनत्सुजात ऋषिने कहा है—

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥
सर्वमेव ततो विद्यात् तत्तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥
(महा० उद्योग० ४६ । ११-१२)

"उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसी में वह चेष्टा करताहै । उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है । कहाँ तक गिनावें, हम अलग-अलग सभी वस्तुओंका नाम बताने में असमर्थ हैं । तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है; अतः परमात्माका ही स्वरूप है । उस सनातन भगवान्‌का योगी लोग साक्षात्कार करते हैं ।"

सब कुछ परमात्मा ही होनेसे वह निकट से निकट है, किंतु वास्तव में वह सम्पूर्ण वस्तुओं से सर्वथा विलक्षण और अत्यन्त परे है; अतः वह दूर से दूर है ।

इसीलिये श्रुति में कहा गया है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
(ईश० ५)

"वह परमात्मा चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है । वह सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है ।"

भावकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो जिस मनुष्यको यह विश्वास है, कि 'परमात्मा है, उसके लिये तो परमात्मा निकट से निकट है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति ॥
(कठ० २।३।१३)

"उस परमात्मा को पहले तो 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ़ निश्चय करना चाहिए । तदनन्तर तत्वभाव से भी उसे प्राप्त करना चाहिए । इन दोनों प्रकारों में से 'वह अवश्य है, इस प्रकार निश्चय पूर्वक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करने वाले साधकके लिये परमात्माका तात्विक स्वरूप अपने-आप शुद्ध हृदय में प्रत्यक्ष हो जाता है ।"

जिस मनुष्यका परमात्मामें श्रद्धा-विश्वास बिलकुल नहीं होता, जो नास्तिक है, उसके लिये परमात्मा दूर-से-दूर है ।

इतना ही नहीं वह परमात्मा चिन्मय अलौकिक आनन्दस्वरूप है। गीता में भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(५।२१)

"बाहरके विषयोंमें आसक्ति—रहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है। तदन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्न भावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।"

तथा—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
(गीता ६।२८)

"वह पाप रहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।"

इन श्लोकों में कथित "अक्षय सुख" और "अत्यन्त सुख" उस फलरूप आनन्द-परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है; क्योंकि—

आनन्दमयो ऽभ्यासत्। (ब्रह्मसूत्र १।१।१९

"श्रुति में आनन्द शब्दका ब्रह्मके लिए बारम्बार प्रयोग होनेके कारण यहाँ आनन्दमय शब्द सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका वाचक है।"

वह आनन्दस्वरूप परमात्मा अपने-आपसे ही परिपूर्ण है और यह संसार भी उस आनन्दस्वरूप परमात्मासे ही परिपूर्ण है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(बृह० ५।१।१)

"वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसारभी उस परमात्मा से परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्णब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है। पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होने से उस साधकके लिए एक पूर्णब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।

श्रीसनत्सुजातजी भी कहते हैं—

पूर्णात्पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥
(महा० उद्योग० ४६।१०)

"पूर्ण परमात्मासे पूर्ण चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। पूर्णसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं। फिर पूर्णसे ही पूर्ण ब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है

तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्माका योगी लोग साक्षात्कार करते हैं।"

अतः ज्ञानयोगके साधकोंको इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपको समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए। भगवान्ने गीतामें बताया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

"जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायणपुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं।"

भगवान्के इस कथनके अनुसार निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी उपासना करने वालेको उचित है कि एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनसे बैठकर उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका मनसे इस प्रकार मनन करे—"परमात्मा कैसा है ? पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, प्रथम आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, परम आनन्द, महान आनन्द, अनन्त आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द ही आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा कुछ है ही नहीं। इस तरह मनन करते-करते मन उस परमात्मामें विलीन हो जाता है तथा इन विशेषणोंकी आवृत्ति करते-करते बुद्धिसे सच्चिदानन्दघन परमात्माका जो एक विशेष स्वरूप समझमें आता है, जिसे गीता (६ । २१) में बुद्धिग्राह्य तथा गीता (१३ । १२) में 'ज्ञेय" के नामसे कहा गया है। उसको ध्येय बनाकर बुद्धिके द्वारा उसका ध्यान करते-करते बुद्धि उस ब्रह्मके स्वरूपमें विलीन हो जाती है। जब तक ध्यान रहता है तबतक ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है; किन्तु जब त्रिपुटीका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब एक परमात्मा ही रह जाता है। वह परमात्माका स्वरूप बुद्धिके द्वारा समझमें आया है, अतः वह बुद्धिमिश्रित ब्रह्मका स्वरूप है। किन्तु उसमें भलीभाँति स्थित होने पर उस उपासकके मल, विक्षेप और आवरणका नाश होकर वह एक परमात्माके ही परायण हो जाता है। अर्थात् परमात्मा में तद्रूप हो जाता है। अतः परमात्माके नाम, रूप और ज्ञानका विकल्प समाप्त हो जाता है। केवल एक परमात्माका स्वरूप ही रह जाता है। नाम और ज्ञान नहीं रहता। इसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका जो फल है, वही परम गति है। उसीको "ब्रह्मकी प्राप्ति" कहा गया है, जिसको प्राप्त होकर वह फिर संसारमें नहीं लौटता, वरं उस निरतिशय आनन्दघन परब्रह्मको प्राप्त हो सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

सगुण और निर्गुण एक ही ब्रह्म के दो प्रतिरूप हैं, अतः तुम सगुणत्व और निर्गुत्व पर विचार न करके केवल भगवान की आराधना करो। यह तुम्हारी आराधना के प्रति सच्ची प्रीति होगी।

"भगवान् श्रीकृष्ण इस समय मानव-रूपमें हमारे बीचमें नहीं हैं, पर उनकी गीता—उनके संदेश इस समयभी हम सबके लिए उपलब्ध हैं, जो महाभारतके भीषण-पयोधिमें रत्नकी भाँति बाहर निकले है। वे सन्देश 'सन्देश' नहीं, जीवनके लिए, समाजके लिए और समस्त राष्ट्र के लिए अमर प्रदीप हैं।"

भगवान् श्रीकृष्णके मुख-कमल से

श्रीमधुप

भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव एक ऐसे युग में हुआ था, जिसे हम 'पाप' और 'अधर्म' का ही युग कहेंगे। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भावके कारण मानवताके इतिहास में वह 'अपावन युग' अधिक वन्दनीय बन गया है, पर यह तो सत्य ही है कि वह युग एक ऐसा युग था, जिसमें चतुर्दिक् दंभ, पाखण्ड, अनीति, अहङ्कार, और वासनाओंका ही स्वर गूँज रहा था। कहना ही होगा, कि उस युग में मानवता बिलकुल नग्न हो उठी थी। कंस, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, और धृतराष्ट्र आदि उसी नग्न मानवताके प्रतिनिधि थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने पाप और अधर्मका मूलोच्छेद करके, विशुद्ध मानवताकी गंगा तो प्रवाहितकी ही, साथ-ही उन्होंने मानव-प्रवृतियोंका अध्ययनभी किया, और अध्ययन किया उन कारणोंका भी, जिनके कीटाणु मनुष्योंके भीतर प्रविष्ट होकर उन्हें दानवताके साँचेमें ढालते जा रहे थे। उन्होंने मनुष्यों के भीतर घुसी हुई आसुरी प्रवृत्तियों को विनष्ट करनेके लिए एक ओर तो 'महाभारत'के युद्धकी रचनाकी, और दूसरी ओर उन्होंने युद्धके मैदान में ही 'गीता' का उपदेश दिया। यद्यपि उन्होंने गीताका उपदेश धनंजयको दिया था, पर उनके गीताके उपदेशों में जो सार निहित है, उसे देखते हुए कोई भी विवेचक यह कहे बिना न रहेगा कि भगवान श्रीकृष्णने गीताका उपदेश अर्जुनके रूपमें, संपूर्ण विश्वको ही दिया है। 'गीता' एक अमर ग्रन्थ है। हिन्दू धर्मके ही मनीषी नहीं, विश्वके सम्पूर्ण बड़े-बड़े धर्मोंके मनीषी तक मुक्त कण्ठसे यह स्वीकार करते हैं कि मानव जीवनके लिए जितनी अधिक प्रकाश-किरणें गीतामें मिलती हैं, उतनी संसारके किसी भी ग्रन्थमें नहीं मिलतीं।' इसका केवल यही कारण है कि 'गीता' उन भगवान् श्रीकृष्णकी अमरवाणी है, जो जीवनके चक्रोंके प्रणेता हैं। गीता में जीवन-पयोधिका मन्थन है। गीता में वे तत्त्व हैं जो मानवताको सुख-शान्तिके साँचेमें ढालते हैं, उसे धर्म और शांतिकी ओर अग्रसर करते हैं। गीतामें वे विधियाँ हैं, जो संघर्षोंके चक्रोंमें फँसे हुए जीवनको आश्रय प्रदान करती

हैं, और गीतामें हैं वे अमर-मन्त्र जो निराश प्राणोंमें नए जीवनका सागर उँडेलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, मनुष्य पर अनुकंपा करके अमृत से भरा हुआ गीताका एक ऐसा घट छोड़ गए हैं, जिसकी बूँदें यदि मनुष्य ग्रहण करें तो उसे युग-युगों तक सुख, शांति, आशा और शक्ति प्रदान करती रहेंगी।

महाभारतके पूर्वके युगकी यदि आजके युगसे तुलनाकी जाय तो कहना ही पड़ेगा, कि आज फिर हम जीवनकी उसी सतह पर हैं, जिस सतह पर महाभारतके युगमें थे। महाभारतके युगकी भाँति ही आज फिर विकारों ने जीवनको आच्छन्न कर लिया है। कहा नहीं जा सकता कि चतुर्दिक् पाप और अधर्मकी फैली हुई कालिमाको दूर करनेके लिए पुनः भगवान् धरती पर जन्म लेंगे, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि हम सुबुद्धिसे काम लें, तो इस अन्धकारमें भी हमें प्रकाशका पथ मिल सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस समय मानव-रूपमें हमारे बीचमें नहीं हैं, पर उनकी गीता—उनके सन्देश इस समयभी हम सबके लिए उपलब्ध हैं, जो महाभारतके भीषण युद्ध पयोधिसे रत्नकी भाँति बाहर निकले हैं। वे 'सन्देश' सन्देश नहीं, जीवनके लिए, समाजके लिए, और समस्त राष्ट्रके लिए अमर प्रदीप हैं। यदि हम चाहें तो उनके प्रकाशमें जीवनकी वह राह ढूँढ़ सकते हैं, जो हमें सही दिशा में ले जाकर हमारी अभीप्सित मंजिल तक पहुँचा देगी। हमें चाहिए कि हम अहं, मत्सरता, लोभ, मोह, आसक्ति, और ईर्षा-द्वेषको छोड़कर, भगवान् श्रीकृष्णके संदेशरूपी प्रदीपको अपने-अपने अन्तरमें जलायें। केवल जलायें ही नहीं, उसकी ज्योतिमें अपने आपका मन्थन करें! इसी उद्देश्य से हम यहाँ भगवान् श्रीकृष्णके कुछ सन्देशोंका संकलन कर रहे हैं, जो जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें हमारे लिए अमर-प्रदीपके समान हैं। इन प्रदीपोंके प्रकाशमें, आइए हम-आप देखें कि वह कौन-सा सही पथ है, जो हमसे और आपसे छूट गया है —

धर्म की अनन्यता

'जीव अकेलाही जन्म लेता है। अकेला ही मरता है एवं वह अपने पाप-पुण्य भी अकेला ही भोगता है। उसके मृत-शरीरको मिट्टी-काष्ठके समान छोड़कर उसके सभी बान्धव वापस लौट आते हैं, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है।'

'अत्यन्त श्रद्धा-युक्त चित्तसे उपयोग करने परही धन-द्वारा धर्मकी प्राप्ति होती है। विना श्रद्धा के किया गया धर्म इस लोक या परलोक में, कहीं भी फलीभूत नहीं होता। धर्म से ही अर्थ एवं सुख-भोग प्राप्त होता है तथा धर्मही मोक्षका कारण है। अतः धर्म का आचरण करना चाहिए। श्रद्धासे ही धर्म धारण किया जा सकता है; बहुत-सी धन-राशि से नहीं। जिनके पास कुछ न था—ऐसे ऋषिगण भी श्रद्धा-सम्पन्न होने के कारण स्वर्ग गए। बिना श्रद्धासे किए गए हवन, दान, तप, तथा अन्य सभी कर्म असत् कहे जाते हैं।'

'सिद्धान्त यह है कि जिस कार्यमें हिंसा न हो, वही धर्म है। महर्षियोंने प्राणियों-की हिंसा न होने देनेके लिए ही उत्तम धर्मका प्रवचन किया है। धर्मही प्रजाको धारण करता है और धारण करनेके कारण ही उसे धर्म कहते हैं। इसलिए जो धारण-प्राण रक्षा से युक्त हो—जिसमें किसीभी जीवकी हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है।'

'धर्मही जीवका माता-पिता, रक्षक, सुहृद्, भ्राता, सखा और स्वामी है। अर्थ, काम, भोग, सुख, उत्तम ऐश्वर्य, और सर्वोत्तम स्वर्गकी प्राप्तिभी धर्मसेही होती है। यदि इस विशुद्ध धर्मका सेवन किया जाय, तो वह महान् भय से रक्षा करता है। धर्मही मनुष्य को पवित्र करता है। धर्म से ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व और देवत्वकी प्राप्ति होती है। जब काल-क्रमसे मनुष्यका पाप नष्ट हो जाता है, तभी उसकी बुद्धि धर्माचरणमें लगती है। हजारों योनियोंमें भटकनेके बादभी मनुष्य-योनिका मिलना कठिन होता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी, जो धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह महान् लाभसे वंचित रह जाता है.........।'

माता-पिता के समान कोई देवता नहीं

'वस्तुत: माता-पिताके समान इस संसारमें कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है। अतएव सभी प्रकार से उनकी पूजा करनी चाहिए। पिता हितका उपदेश करनेवाला श्रेष्ठ देवता है। संसारमें जो दूसरे देवी-देवता हैं, वे शरीरके प्रदान करने वाले नहीं हैं। शरीर ही जीवके स्वर्ग तथा मोक्षका एक मात्र साधन है। जिनकी कृपासे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, और सनातन लोक सभी मिले हैं, उनसे बढ़कर पूज्यतम भला और कौन हो सकता है?'

'पुत्रोंको चाहिए, कि वे पिताकी पूजा करें। योंही शिष्योंको गुरुका पूजन करना चाहिए। पुत्र और शिष्यको सेवककी भाँति उनके आज्ञानुसार सारा कार्य करना उचित है। पिता और गुरुमें कभी मनुष्य-बुद्धि नहीं करनी चाहिए। पिता, माता, गुरु, भार्या, शिष्य, स्वयं अपना निर्वाह करनेमें असमर्थ पुत्र, अनाथ बहिन, कन्या, और गुरु पत्नी का नित्य भरण-पोषण करना कर्तव्य है।.........।'

'यदि कोई मनुष्य सौ वर्ष तक जीकर माता और पिताकी सेवा करता रहे, तबभी वह उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरने पर यम-दूत उसे उसके अपने शरीरका मांस खिलाते हैं। जो पुरुष समर्थ होकरभी बूढ़े माता-पिता, सती-पत्नी, बालक, संतान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागत का भरण-भोषण नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्दे के समान है।'

'जो पुरुष पिता और माताका तथा विद्या दाता एवं मंत्रदाता गुरुका पोषण नहीं करता, यह जीवन भर पाप से शुद्ध नहीं होता। समस्त पूजनीयोंमें पिता महान् गुरु है; परन्तु माता गर्भमें धारण एवं पोषण करती है, इसलिए पिता से भी सौ गुनी श्रेष्ठ है। माता पृथ्वीके समान क्षमाशील, और सबका समानरूप से हित चाहने वाली है; अत: भूतल पर सबके लिए माता से बढ़कर बन्धु दूसरा कोई नहीं है। साथ ही यह भी सत्य है, कि विद्यादाता और मन्त्रदाता गुरु माता-पिता से भी बहुत बढ़-चढ़कर आदर के योग्य हैं। वेद के अनुसार गुरु से बढ़कर वन्दनीय और पूजनीय दूसरा कोई नहीं है।'

सत्वेषु मैत्री

'जो सर्वत्र अपने दु:ख-सुखके समान दूसरोंके दु:ख सुखको समझता है, वही श्रेष्ठ योगी है।'

'जो किसी प्राणीसे वैर-भाव नहीं रखता, वह मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होता है।'

'अपनी इन्द्रियों को वश में करके सबमें सम-बुद्धि रखने वाले और सब प्राणियोंके हितमें रत रहने वाले ईश्वर को प्राप्त होते हैं।'

'जो मुझको सब प्राणियोंका मित्र जानता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।'

'जो किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, सबसे मैत्री भाव रखता है, सब पर करुणा करता है, ममता और अहङ्कार से रहित है, सुख-दुःखमें समबुद्धि रखता है, क्षमाशील है, वह भक्त मुझे प्रिय है।'

'जिससे किसी प्राणीको क्षोभ नहीं होता, और जिसको किसी से भी क्षोभ प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, शोक, ईर्ष्या, भय आदि से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है।'

'मेरा भक्त दयालु होता है, किसीभी प्राणीसे वैर-भाव नहीं रखता, सब दुःखों को प्रसन्नतासे सहता है, पाप-वासना रहित और सत्यसार होता है, समदर्शी और सबका उपकार करनेवाला होता है।'

वृक्षारोपण

'पहाड़ पर स्थित दस वृक्षोंकी अपेक्षा पृथ्वीके पाँच वृक्ष ही भले हैं; क्योंकि वे अपने पत्र-पुष्प, और मूल-फलों से पितरों का तर्पण करते हैं।'

'धर्म और अर्थसे वर्जित बहुतसे जन्म लेने वाले पुत्रों से क्या लाभ? रास्ते पर स्थित एक वृक्ष ही श्रेष्ठ है, जिसके नीचे अनेक यात्री विश्राम करते हैं।'

'श्रेष्ठ वृक्ष अपनी छाया, छाल, और पत्तोंके द्वारा हर प्रकारसे प्राणियों को तृप्त तथा प्रसन्न करते हैं और वे अपने पुष्पों से देवताओंको तथा फलों से पितरोंको तृप्त करते हैं।

'जो वृक्षोंको रोपता है, वह सदा तीर्थोंमें ही निवास करता है, सदा दान करता है' और सदा यज्ञ करता है……।'

गार्हस्थ्य जीवन

'गृहस्थ आश्र म से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। गृहदानसे बढ़कर कोई दान नहीं है, झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है, और ब्राह्मणसे बढ़कर कोई पूज्य नहीं है।'

'जिस प्रकार माताका आश्रय लेकर सभी प्राणी पलते तथा जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका आश्रय लेकर दूसरे आश्रम प्राण धारण करते हैं।'

'घरके बिना धर्म, अर्थ, काम, सुख, यश और दूसरे प्रकारकी भी कोई लौकिक सफलता मनुष्यको तो क्या, देवताओंको भी प्राप्त नहीं होती। गृह-जनित आनन्दकी कोई सीमा नहीं है।'

'जहाँ पैर पसार कर आदमी घरमें सुख-पूर्वक सोता है, वहाँ दिनोंकी कोई गिनती नहीं होती और रात्रियों का भी पता नहीं चलता।'

'घरमें रहकर साग, पात खा करके जीवन बिताने वाले व्यक्तिको भी सुखका अनुभव होता है।'

गो सेवा

…गोरक्षा, देश-विध्वंस, देवता, तथा तीर्थोंके ऊपर आपत्ति पड़ने पर प्राण त्याग करने वाला प्राणी स्वर्गमें वास करता है।

'तीर्थ-स्थानों में जाकर स्नान-दान में जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन कराने में जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, संपूर्ण व्रत, उपवास, सब तपस्या, महादान, तथा श्रीहरिकी आराधना करने पर जो पुण्य सुलभ होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण वेद-वाक्योंके स्वाध्याय, तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करने पर मनुष्य जिस पुण्यको पाता है, वही पुण्य बुद्धिमान गौओंको घास देकर पा लेता है ।

'जो घास चरती हुई गायको स्वेच्छापूर्वक चरनेसे रोकता है, उसे ब्रह्म-हत्याका पाप लगता है, तथा वह प्रायश्चित्त करनेपर ही शुद्ध होता है।... ...जो मनुष्य गायके पद-चिह्नसे युक्त मिट्टी द्वारा तिलक करता है, उसे तत्काल तीर्थ-स्नानका फल मिलता है, और पग-पग पर उसकी विजय होती है ।'

आसुरी संपदा

'पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञानभी—यह सब आसुरी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ।'

'आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्त्तव्य कार्यमें प्रवृत्त होनेको और अकर्त्तव्य कार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिए उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है, और न सत्य भाषण ही है ।'

'आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रय रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने-आप स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए केवल भोगोंको भोगनेके लिए ही है, इसके अतिरिक्त और क्या है ?

'इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका, तथा मन्द है बुद्धि जिनकी, ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूर कर्मी मनुष्य केवल जगत्का नाश करनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं ।'

राजा

'इस लोकमें राजा सभी वर्णोंकाही भाई कहा गया है ।'

कर्म-रत मनुष्य

'जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुई परिस्थितिमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें मत्सरता का अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्दोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला ऐसा पुरुष कर्म करते हुए भी बँधता नहीं ।'

'जो पुरुष सब कर्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलमें कमलके पत्तेकी भाँति पापमें लिप्त नहीं होता ।'

भक्त और भक्ति

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित, सबका ही स्वार्थ रहित मित्र, और हेतु-रहित दयालु, ममता और अहंकारसे रहित, दुःख-सुखों की प्राप्तिमें सम, क्षमाशील, योगी, निरंतर संतुष्ट, मन-इन्द्रियों सहित शरीरको वशमें रखनेवाला और मुझमें दृढ़-निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुये मन-बुद्धि वाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।'

'जिसने अपनी मानकर किसी भी वस्तुको नहीं रक्खा है, और जो सर्व प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी

हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण संतोषका अनुभव करता है, उसके लिए आकाशका एक-एक कोना आनन्दसे भरा है ।'

'भक्तके पीछे-पीछे मैं निरंतर यह सोचकर घूमा करता हूँ, कि उसके चरणों की धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ।'

'जो कोई भी भक्त मेरे लिए प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल और जल अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं स्वयं प्रीति सहित खाता हूँ ।'

सत्संग

जगत्‌में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है । यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्म-पालन और न स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणासे भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता । कहाँ तक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं ।

'मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्संग और भक्ति योग—इन दोनों साधनोंका एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये प्रायः इन दोनोंके अतिरिक्त संसार-सागरसे पार होनेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि संत-पुरुष मुझे अपना आश्रय मानते हैं और मैं सदा-सर्वदा उनके पास रहता हूँ ।'

ज्ञानी कौन—मूर्ख कौन

'जिसके सम्पूर्ण कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञान रूप अग्निके द्वारा दग्ध हो गये हैं, उसको ज्ञानीजन् 'पंडित' कहते हैं ।'

'जिनका ज्ञान मायाके द्वारा हरा गया है, जो आसुरी भावका आश्रय किये हैं, तथा जो मनुष्योंमें अधम एवं दूषित कर्म करने वाले हैं, वे मूढ़ लोग मुझको (भगवान्‌को) नहीं भजते ।'

'समस्त भूत-प्राणियोंके महान् ईश्वर रूप मेरे (भगवान्‌के) परम भावको न जानने-वाले मूढ़ लोग मानव-शरीरधारी मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं ।'

भगवान् श्रीकृष्णके सन्देश, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें, आज भी अमर-प्रदीपके समुज्ज्वल प्रकाशका ही काम करते हैं । गार्हस्थ्य जीवनसे लेकर, संन्यास और आत्म-दर्शन की कँकरीली पथरीली राहों पर उनके सन्देशका ज्योतिर्मय प्रकाश पड़ता है । जीवन की ऐसी कोई राह नहीं, जिसे हम उनके सन्देशके प्रकाशमें न ढूँढ़ सकें । उनका सन्देश आज भी हमारे जीवनके चारों ओर गुंजित हो रहा है, पर दुःख है कि हम अपने अहंमें डूबे हुए केवल आँख बन्द करके चल रहे हैं । हमें पग-पग पर ठोकरें लग रही हैं, पर हम अपने अहं पर अड़े हुए, अपनी अज्ञानताको ही 'सर्वस्व' मान रहे हैं । यदि हम इसी प्रकार अपनी अज्ञानता पर अड़े रहेंगे, तो वह दिन दूर नहीं, जब राष्ट्र और समाजकी तरी भँवर में फँसती हुई दिखाई पड़ेगी । अब भी समय है, घर-घरमें भगवान् श्रीकृष्णके सन्देश का दीपक जलाइए, और उसके प्रकाशमें जीवनके पथ पर आगे बढ़िए ! चारों ओर विजय ही विजय होगी, मंगल ही मंगल होगा ।

"जब दुष्टों के पाप-भार से, भू-देवी अकुलाती है ।
साधुजनों पर संकट आता, धर्म-ज्योति कुम्हलाती है ॥
द्रवीभूत तब प्रभुकी करुणा, क्षीर-सिंधु से आती है ।
गीता की अनमोल प्रतिज्ञा, बार-बार दुहराती है ॥"

कुँवर कन्हैया !

श्रीआरसीप्रसाद सिंह

वाचिका

भादों मास, पाख अँधियारी, आधी रात भयानक है ।
आसमान में प्रलय-काल की, छायी घटा अचानक है ।
अन्धकार इतना है, मानो सागर उमड़ा काजल का ।
वज्र-नाद से गूंज रहा है, कम्पित आँचल भूतल का ।
वर्षा मूसलधार, सृष्टि को झंझा-वात हिलाती है ।
बिजली चमक-चमक कर, पानी में भी आग लगाती है ।

वाचक

इसी भयानक काल-रात्रि में, जन्म एक शिशु लेता है ।
कंस - राज के कारागृह में, नव - जीवन भर देता है ॥
बन्दी हैं वसुदेव - देवकी, शासन अत्याचारी के ।
कौन जानता ? क्या है मन में, चक्र - सुदर्शन - धारी के ?

वाचिका

जब दुष्टों के पाप - भार से, भू - देवी अकुलाती है ।
साधु - जनों पर संकट आता, धर्म - ज्योति कुम्हलाती है ॥
द्रवीभूत तब प्रभु की करुणा, क्षीर - सिंधु से आती है ।
गीता की अनमोल प्रतिज्ञा, युग - युग में दुहराती है ॥

वाचक

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे - युगे ।।

वाचिका

मथुरा में उत्पन्न हुए हरि, गोकुल में कैसे आये ?
पुत्र देवकी के थे, लेकिन, लाल नन्द के कहलाये ।
प्रलय - काल में जन्म लिया, तो प्रलय मचाता ही आया ।
बचपन से ही दुष्ट - जनों को, नाच नचाता ही आया ।।

वाचक

कपट - वेष धर चली पूतना, भेज उसे यम - धाम दिया ।
कितने और असुर - गण आये, सबको मरण - विराम दिया ।
हर चरित्र अद्भुत है जिसका, प्यारी जिसकी गैया है ।
गोप - सखा वह, बलदाऊ का भैया, कुँवर कन्हैया है ।।

ब्रज-नारियों का समूह-गान

कुँवर कन्हैया आया रे ।
मन भाया रे ।।

नटवर नागर, श्याम सलोना ।
माँग रहा है चाँद खिलौना ।।
तुतली वाणी, दूध - दंतुलिया ,
मधुर - मधुर मुस्काया रे ।
कुँवर कन्हैया आया रे ।
मन भाया रे ।।

ठुमुक - ठुमुक आँगन में डोले ।
रुनुक - रुनुक नूपुर रस घोले ।।
मुख - सरोज, लट घूँघरवारी ,
आनन्द का घन छाया रे ।
कुँवर कन्हैया आया रे ।
मन भाया रे ।।

बोला, कबैं बढ़ेगी चोटी ?
कितनी खायी माखन - रोटी ।।
हिय से लगा हँसी नन्दरानी ,
छवि - सागर लहराया रे ।
कुँवर कन्हैया आया रे ।
मन भाया रे ।।

वाचिका

यमुना के तट पर कदम्ब के, वन में वेणु बजाता है।
कुँवर कन्हैया वृन्दावन में, ग्वाल-बाल सँग जाता है॥
भाँति-भाँति की क्रीड़ा करता, दिन भर गाय चराता है।
संध्या होते ही कानन से, भवन लौट कर आता है॥

वाचक

मुरली में कैसा जादू है? जो सुनता, सिर धुनता है।
मानव तो मानव ही, पशु भी ताना-बाना बुनता है॥
मंत्र-मुग्ध है निखिल चराचर, जीव-जन्तु, जड़-जंगम है।
बंशी का हर बोल निराला, सात स्वरों का संगम है॥

वाचिका

ब्रजमण्डल के गोपीजन ने, देखा ऐसा चतुर गुणी।
बरसाने की राधा ने भी, बंशी की वह तान सुनी॥
फिर तो कुँवर कन्हैया पाया, ऐसा रंग-रँगीला है।
वृन्दावन की कुंज-गली में, प्रति दिन होती लीला है॥

वाचक

जिस दिन नहीं देखती राधा, अपने प्रिय नट-नागर को।
उस दिन बन वियोगिनी फिरती, वन में भूल गाँव-घर को॥
वन-पथ में गो-धूलि उड़ाती, जब संध्या अकुलाती है।
यमुना-तट पर अन्तरिक्ष की ओर देखकर गाती है॥

राधा का गीत

मोहन, मुरली मधुर बजाओ।
धेनु चराते दिन बीता है,
साँझ हुई, घर आओ।
मोहन, मुरली मधुर बजाओ॥
मोर-मुकुट, पीताम्बर, माला।
कुटिल-केश, लोचन मतवाला॥
नव-जलधर पर इन्द्रधनुष-सी,
छवि अपनी दरसाओ।
मोहन, मुरली मधुर बजाओ॥

वंशी के वश में हैं सारे।
जीव जगत के, प्राण हमारे॥
मुरझाई है लता आस की,
नयन - सुधा सरसाओ।
मोहन, मुरली मधुर बजाओ॥

वन में अंधकार है छाया।
जाने कौन असुर की माया॥
नीर - हीन मैं मीन बनी हूँ,
मन की पीर मिटाओ।
मोहन, मुरली मधुर बजाओ॥

वाचक

बाल - कृष्ण की लीलाओं से, इस प्रकार व्रज शोभित था।
नंद - यशोदा का घर-आँगन, कल-कल-रव से मुखरित था॥
नटखट कुँवर कन्हैया व्रज में, ऊधम खूब मचाता था।
माखन चोरी कर लेता था, दही लूट कर खाता था॥

वाचिका

कोई गोपी दही बेंचने, व्रजमण्डल में जाती थी।
सिर पर दधि की मटुकी रखकर, अनुपम चाल दिखाती थी॥
इतने में गोपाल कहीं से, कुंज - भवन में आता है।
गोप - कुमारों का दल लेकर, दधि पर हाथ बढ़ाता है॥

वाचक

हरिणी - सी भयभीत गोपिका, आगे पाँव न धरती है।
चकित खड़ी है निर्जन पथ में, हरि की विनती करती है॥
कभी पाँव पड़ती, नयनों से, आँसू कभी बहाती है।
कभी कन्हैया को चुन - चुन कर, खोटी - खरी सुनाती है॥

युगल-गान

गोपी : कुँवर कन्हाई, लाज न आई।
दधि की मटुकी तोड़ गिराई,
दी मेरी झकझोड़ कलाई।
कुँवर कन्हाई, लाज न आई॥

कृष्ण : चोरी - चोरी दधि ले जाती ।
दान नहीं देती, सकुचाती ।
ब्रजमण्डल का राजा हूँ मैं,
करती मेरे साथ ढिठाई ।

गोपी : दधि की मटुकी तोड़ गिराई,
दी मेरी झकझोड़ कलाई ।
कुँवर कन्हाई, लाज न आई ॥

नटखट तुम करते बरजोरी ।
डाल प्रीत की रेशम डोरी ।
कह दूँगी मैं नन्द - राज से,
तुम कैसे हो श्याम कन्हाई !

दधि की मटुकी तोड़ गिराई,
दी मेरी झकझोड़ कलाई ।
कुँवर कन्हाई, लाज न आई ॥

कृष्ण : जब तक दधि का दान न दोगी,
तब तक आगे पग न धरोगी ।
अन्तर प्रेम, वचन में रिस है,
मैं समझा तेरी चतुराई ।

गोपी : दधि की मटुकी तोड़ गिराई,
दी मेरी झकझोड़ कलाई ।
कुँवर कन्हाई, लाज न आई ॥

गोपी और कृष्ण :
ब्रजमण्डल में हम न रहेंगे ।
सब सुन लेंगे, कुछ न कहेंगे ।
तिल का ताड़ बनाती दुनिया,
भोलेपन की जगत - हँसाई ।

गोपी : दधि की मटुकी तोड़ गिराई,
दी मेरी झकझोड़ कलाई ।
कुँवर कन्हाई, लाज न आई ।

वाचक

त्रिभुवन के ठाकुर को बोलो, क्या अभाव था जीवन में ?
इस प्रकार जो गोपीजन का, दधि लूटा वृन्दावन में ।

वाचिका

दधि के मिस प्रभु भक्त-जनों की, ममता को हर लेते हैं ।
अहं - भावना को विदलित कर, आत्म-रूप कर लेते हैं ।।

वाचक

क्रीड़ा - कन्दुक गिरा एक दिन, कालिन्दी-कज्जल-जल में ।
कुँवर कन्हैया उसे पकड़ने, चला अकेला ही पल में ।।
ग्वाल - बाल कर उठे अचानक, हाहाकार करुण स्वर में ।
कालिय नामक एक भयानक, नाग वहाँ रहता सर में ।।

वाचिका

ऐसा यह विषधर है, जिसके विष से दूषित पानी है ।
अनजाने जो आ जाता, वह पीकर मरता प्राणी है ।।
हरि ने समझा, कालिय-अहि का अन्त-काल अब आया है ।
कन्दुक के मिस कूद पड़े, बस जल में, प्रभु की, माया है ।।

वाचक

दौड़े बाबा नन्द, यशोदा मैया दौड़ी व्याकुल हो ।
गोकुल के नर - नारी पहुँचे, यमुना - तट पर सुध - बुध खो ।।
कुँवर कन्हैया, आओ भैया, हलधर ने आह्वान किया ।
कहाँ श्याम हो, प्राण हमारे, विधि ने कुटिल विधान किया ।।

वाचिका

इतने में क्या देखा सबने, जल - धारा में विस्मय से ।
कालिय का मद मर्दन कर, हरि निकल रहे सलिलालय से ।।
अहि के फण पर नाच रहा है, कुँवर कन्हैया ताथैया ।
मधुर - मधुर बंशी बजती है, विहँस रहे हलधर भैया ।।

वाचक

नन्द - यशोदा प्रेम - मग्न हो नयन अश्रु भर लाते हैं ।
कुशल मनाते कृष्णचन्द्र की, ईश्वर का गुण गाते हैं ।।

सुरपुर से अपने विमान पर, अनुपम देव उतरते हैं।
कण्ठ मिलाकर व्रज - मानव के, साथ प्रार्थना करते हैं।।

समूह-गान

जयति - जयति कृष्णचन्द्र, गोवर्द्धन - धारी।
कालिय - मद - मर्दन जय, जय -जय असुरारी।।

जन पर जब भीड़ परी,
हरि ने तब पीर हरी।
धरती आनन्द - भरी, हर्षित संसारी।
जयति - जयति कृष्णचन्द्र, गोबर्द्धन - धारी।।

मानव अवतार लिया।
दानव को मार लिया।।
हलका भू - भार किया, केशी - संहारी।
जयति - जयति कृष्णचन्द्र, गोबर्द्धन - धारी।।

शोभा - श्री कोटि - काम।
बाँकी छवि, मेघ - श्याम।।
मन - मोहन शील - धाम, सुषमा - संचारी।
जयति - जयति कृष्णचन्द्र, गोबर्द्धन - धारी।।

मानव-धर्म

जीवनरूपी रथ चला जारहा है। इस रथमें १० घोड़े (५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां) जुत रहे हैं। मनरूपी लगाम लगी है और बुद्धि सारथीका काम कर रही है। आत्मा इस रथमें विराजमान है। परन्तु हम मनके ही आधीन हो चुके हैं और बुद्धिरूपी सारथी और आत्माको भूल गये हैं। भगवान् कृष्णने भी कहा है :—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

यदि हम बुद्धिकी बात नहीं सुनेंगे तो हमारा जीवन-रूपी रथ अल्पकालमें ही नष्ट हो जायगा। आजका मानव दुःखी, रोगी, अशान्त, निर्धन होता जारहा है। इसका मूल कारण यह है कि हम अपने धर्म-कर्मको भूल गये हैं। कहा भी है :—

धर्म - हीन नर सोंहहिं कैसे। बिना पंख के पक्षी जैसे।।

—:(०):— श्रीसजनसिंह, धर्म-शिक्षक

"जीवमें से दिव्य गुणोंका तिरोभाव होगया, अतः जीव दीन, दुर्बल और निरानन्द होगया है। सभी भक्तकवियों ने जीव-सम्बन्धी इस सामान्य सिद्धान्तको अपने ऊपर घटित करके अपनी हीनता का घोष किया है।"

आंध्र-हिन्दी भक्तकवियोंकी आराधना—दास्यभाव

डा० श्री के० रामनाथन् एम० ए०, पी० एच० डी०

लौकिक धरातल पर मनुष्य दास्यके प्रति प्रतिक्रिया ही करता है, पर भक्तिके क्षेत्रमें आलम्बनकी महत्ता और उनके ऐश्वर्य आदि गुणोंकी मान्यताके अनुसार दास्य एक उपयुक्त भाव बन जाता है। दार्शनिक दृष्टिसे अणुरूप जीव और मलग्रस्त मनकी हीनताको ध्यानमें रखते हुए दास और स्वामीका सम्बन्ध युक्तियुक्त हो जाता है। दास्यभावको पाँच तत्वोंमें विभाजित किया जा सकता है—(१) पश्चात्ताप (२) हीनता-ज्ञापन (३) सर्वेन्द्रिय साधना (४) उद्धारकी प्रार्थना और (५) वचन-भंगिमा। पाँचों तत्वों पर क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

पश्चात्ताप—पश्चात्ताप एक अग्नि है, जो मानसिक विकारोंको जलाकर मनको शुद्ध कर सकती है। अपनी पापवृत्तिकी स्वीकृति करनेके पश्चात् जीव पश्चात्तापके सोपान पर पदविन्यास करता है और भगवान्के समीपतर पहुँचता है। आंध्रके भक्तकवि अन्नमाचारी का कहना है, 'भगवान्को विस्मृत करके जीवने महान अपराध किया। इतने परभी भगवान्ने भक्तको भुलाया नहीं।' वे कहते हैं, 'मैंने अन्य सामान्य लोगोंकी स्तुतिकी, पर भगवान्की स्तुति नहीं की, इसलिये जिह्वाकी सुन्दरता नष्ट होगई।' तुलसी और सूरने भी तुच्छ प्राणियोंके यशगान पर पश्चात्ताप प्रकट किया है। अन्य मिथ्याकर्मों में समस्त समय नष्ट हो जाता है, पर भगवान्का भजन नहीं होता। अन्नमाचारीको इस बातपर पश्चात्ताप होता है कि कृष्णावतारके समय वे न दासी, बछड़ा, ग्वालिन बन सके और न रामावतारके समय उनके मार्गमें एक पत्थर ही बन सके। महाकवि पोतना लिखते हैं, 'इन्द्रिय-सुखरूपी मृगतृष्णा से मोहित होकर हम उनके पीछे दौड़ते रहे। हे भगवान् ! हमने कभी तेरे प्रति प्रेमभाव प्रकट नहीं किया। अब हमारा उद्धार केवल तुम्हारे हाथमें है।' पेट्टतिरुमलाचारी कहते हैं, 'भगवान्की सर्वव्यापकता और सर्वान्तिर्यामित्व को भुलाकर मैंने अनेक अपराध किये हैं। उनके प्रायश्चित्तके लिये मैं भगवान्को प्रणाम करता हूँ।' महाकवि भक्ततुलसीदासजी का कहना

है, 'मुझे सुरदुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त हुआ, पर मैं अज्ञानांधकारमें पड़ा रहा और गर्वमें ऐसा चूर रहा कि भगवान्‌का भजन नहीं किया।' महाकवि सूरदासजी कहते हैं, 'भगवान्‌के भक्ति-रूपी अमृत और विषयके विषके बीच चुनाव था और मूढ़ मनने विषको ही वरण किया।' परमानन्ददास पश्चात्ताप प्रकट करते हैं, 'कृष्ण-भक्तिके बिना ही दिन व्यर्थ हो रहे हैं।'

इस प्रकार आंध्र-हिन्दी कवियोंमें पश्चात्तापकी प्रवृत्ति समान रूपसे मिलती है।

हीनता-ज्ञापन—जीव लघु है और परमात्मा असीम। जीवमें से दिव्यगुणोंका तिरोभाव हो गया, अतः जीव दीन, दुर्बल और निरानन्द हो गया है। सभी भक्तकवियोंने जीव-सम्बन्धी इस सामान्य सिद्धान्तको अपने ऊपर घटित करके अपनी हीनताका घोष किया है। तुलसीदासके अनुसार मन अविद्याजन्य मलसे ग्रस्त है। यह स्त्रीरत होना चाहता है, मिथ्या विषय सुख इसको आकर्षित करते हैं, यह वासनासे कलुषित है। अत्युक्तिकी शैलीमें वे अपने को कीट-पतंगों से भी गया-बीता कहते हैं। सूरने तो अपनेको सब पतितोंका टीका बताया है—

'प्रभु हौं सब पतितनकौ टीकौ।'

'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कहकर कहकर उन्होंने अपनेको पतित-शिरोमणि घोषित किया; क्योंकि जिसने मुझे जन्म दिया है, उसीसे मैं द्रोह करता हूँ। अन्नमाचारी अपने पापोंको भगवान्‌के सामने इसलिये स्वीकार करते हैं कि इस क्रियासे वे नष्ट हो जायें। वे कहते हैं, 'कदाचित् मैंने इतने पाप किये हैं कि उनका लेखा-जोखा असम्भव है, और नरकमें भी मुझे स्थान नहीं मिलेगा।' पेट्टतिरुमलाचारी ने अपने मनकी विषय-वासना और उसकी पाप-परायणता का वर्णन किया है। अय्यलराजु त्रिपुरांतक भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं, 'हे जानकी नायक! परकीयाओंके पदाब्ज, बाहु, कण्ठ, जूड़ा आदिकी ओर सतत् दौड़ पड़नेवाले मेरे मनकी चंचलताको दूर कीजिये।' पोतनाका प्रह्लाद हिरण्यकश्यपसे कहता है, 'पिताजी! तुम्हारा मनही तुम्हारा घोर शत्रु है। यदि वह वशमें हो जाय तो संसारमें आपके लिये कोई शत्रु नहीं हो सकता।' श्रीकृष्णदेवरायने लिखा है, 'मनको विषयों में प्रवेश कराने से बन्धन तथा विषयों से पराङ्मुख करानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। विषयासक्तियों से निर्लिप्त मनरूपी शुद्ध लोहा, भगवान् रूपी चुम्बककी ओर तत्क्षण आकृष्ट हो जाता है।'

चंचलता और विकृतियों से पीड़ित मन तथा उसके विषय-प्रेम पर आधारित अपनी हीनता ज्ञापित करनेमें तेलुगु और हिन्दी कवि समान भाव रखते हैं। अपनी हीनताको ज्ञापित करना हर एकके बसकी बात नहीं। मनको हल्का करनेका यह मानसिक उपाय भी है। अन्तर्द्रष्टा भक्त कमसे कम भ्रमोंसे मुक्त होकर अपने यथार्थ रूपको समझ लेता है।

सर्वेन्द्रिय भाव-साधना—शरणागतिकी साधनाका चरमबिन्दु वह है, जहाँ भक्तकी सभी इन्द्रियाँ अन्य विषयोंसे विरत होकर भगवद्‌विषयमें ही रस लेती हैं। इन्द्रियोंकी यही सार्थकता है। भक्तकवियोंने कभी निषेधात्मक और कभी विधेयात्मक शैलीमें इस तत्त्वका वर्णन किया है। तुलसीदासजी कहते हैं, 'जिनके कान-रूपी समुद्र रामकथारूपी नदियोंसे भरते रहने परभी तृप्त नहीं होते, जिनके नेत्र-चातक रामघनश्यामकी ओर देखते-देखते थकते नहीं, जिनकी वाणी भगवान्‌के यशसरोवरकी हंसिनी बनकर गुण-मुक्ताओं को चुगती है, जिसकी

नासिका भगवान्‌के पुष्पादिकी गन्धसे तृप्त रहती है, ऐसे ही भक्तोंके हृदयमें भगवान्‌का निवास होता है।' पोतनाने भक्तके लक्षण गिनाते हुए कहाहै, उसकी साधना इस कोटि तक पहुँच जाती है कि प्रत्येक शब्द, प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक स्पर्श, प्रत्येक सुगन्ध तथा प्रत्येक भावना भगवान्‌से ही सम्बन्धित आभासित होने लगती है।' पेट्टतिरुमलाचारीने अपनी अनन्य भक्ति का प्रदर्शन इस प्रकार किया है, 'मेरी आँखें रूपी कुमुद तेरे मुख-चन्द्रके दर्शनके लोलुप हैं। मेरा मन-मयूर तुम्हारे शरीरके श्यामवर्णरूपी घनका ही स्मरण करता है।' अन्नमाचारीने इस सिद्धान्तके कथनकी शैलीको और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। उनका तात्पर्य यह है कि 'जो इन्द्रियाँ भगवान्‌की ओर उन्मुख हो गयीं, वे सांसारिक विषयों की ओर नहीं चलतीं।' सूरदासने भी इसी बातको अन्य प्रकारसे कहा है—

"जिहिं मधुकर अम्बुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल भावै।"

इस प्रकार अपनी इन्द्रियोंकी विपरीत दशाके प्रति एक आक्रोश, उनकी अनुकूल दशाकी साधना और साधनामें सफल होने पर सब कुछ भगवान्‌मय दिखाई देनेकी स्थिति हिन्दी और तेलुगु कवियोंमें समान रूपसे मिलती है।

उद्धार की प्रार्थना—भक्त जब अपनी हीनता स्वीकार ही नहीं, अपितु उसका कथन भी करता है, तो एक निराशा की रेखा उसे अपने आस-पास दिखाई देती है। अपने पाप कर्मों की अधिकता को देखकर उसे यह विश्वास भी हो जाता है कि अपने सुकर्मोंके बल पर वह अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस निराशाके अंधकार में उसे केवल एक ही ज्योति-किरण प्रोद्भासित होती है और वह है भगवान्‌की कृपा और भक्तवत्सलता। भगवान्‌की शक्ति और गुणोंको देखकर अपने अक्षम्य पापों से निराश भक्त आशामय हो उठता है और उसमें यह साहस होता है कि वह भगवान् से उद्धार की प्रार्थना करे। भगवान्‌की इस अहैतुकी कृपा पर भी भक्तका विश्वास होता है कि भगवान्‌ने किसी पुण्य कार्यके बिना भी अधमों का उद्धार किया है। अन्नमाचारीके अनुसार भगवान् अहैतुक दयानिधि है। महान् से महान् पापी भी यदि भगवान् का स्मरण करता है तो हरि प्रसन्न होकर उसका उद्धार करते हैं। दोष भगवान् का नहीं है, दोष उनका है जो उन पर विश्वास नहीं करते।

अपने अधीर और निराश मनको भगवान्‌के विरुद और उसके उदाहरणों के द्वारा हिन्दी और तेलुगु दोनों ही क्षेत्रके कवि एक ही समान धैर्य प्रदान करते हैं। पोतना के गजेद्र मोक्ष के प्रसंग से यह व्यंजित होता है, कि बिना पूर्ण आत्म-समर्पण के भगवान् की कृपा प्राप्त नहीं हो सकती।' गीताके "संशयात्मा विनश्यति" के अनुसार भक्तको भगवान्‌के सम्बन्ध में संशय नहीं प्रकट करना चाहिये। "रक्षिष्यतीति विश्वासः" की बहुत ही आवश्यकता है। पोतना के गजेन्द्रको भगवान् के सम्बन्धमें पहले संशय उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी शरणागति अपरिपक्व थी। यही कारण है कि विष्णुने पहले उसकी रक्षा नहीं की किन्तु धीरे-धीरे जब उसका यह दोष अदृश्य हो गया, तब उसके आत्मसमर्पण में पूर्णता आने लगी। गजेन्द्र अब अपनी शक्ति पर विश्वास करना छोड़कर केवल भगवान् के रक्षकत्व पर ही भरोसा रखने लगा। उसकी विमल और पूर्ण शरणागति से वैकुण्ठस्थ विष्णु अभिभूत हो गए और शीघ्रही आकर उसकी रक्षाकी यही शरणागतिका रहस्य है।

अन्नमाचारीमें भी इसी प्रकारकी शरणागतिका भाव है, 'मैं संसाराब्धिमें डूबा जा रहा हूँ। अन्य सब लोग इस स्थितिको देखने वाले मात्र हैं, रक्षा करने वाला कोई नहीं है। मैं तुम्हारी शरणागत हूँ, हे प्रभु ! रक्षा करो।"

मीरा भी इसी प्रकार भगवान् के प्रति अनन्य आत्मसमर्पण रखती हैं—

'यों संसार विकार-सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पालि बाँधो डूबत है बेरी ॥'

पोतनाका प्रह्लाद भगवान्से बिछुड़े रहनेकी बात सोचकर कभी रोने लगता है कभी अनन्य भक्तिसे वह गाने लगता है, कभी विष्णुके सर्वव्यापकत्वका अनुभव करके हँसने लगता है और कभी प्रेमोन्मादसे आनन्दाश्रुओं को बहाते हुए पुलकित हो जाता है। इस प्रकार भवसागरमें डुबकियाँ लगाता हुआ भगवान्की कृपाकी डोरको पकड़ कर उनकी शरण रूपी किनारे पर आना चाहता है। शरणमें आनेके पूर्व भक्तको यह संकल्प करना आवश्यक है कि अब उसका जीवन भगवान्के संकेत पर ही चलेगा। इस प्रकार भगवान्की इच्छा और भक्तके जीवनक्रममें समरसता स्थापित हो जाती है। आंध्र-हिन्दी भक्त कवियों ने अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के जीवन का संकल्प किया है। शरणागति का एक आवश्यक तत्व अनन्यताभी है। सूरकी इन पंक्तियोंमें यह तत्व द्रष्टव्य है—

"मेरौ मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाजकौ पंछी पुनि जहाजपै आवै ॥

अन्नमाचारीमें भी यही भाव ज्यों का त्यों प्रकट हुआ है।

वचन भंगिमा—दास्यकी साधनामें जब भक्तकवि अपनेको भगवान्के निकटतर पाता है और उसमें भगवान्का विश्वास एवं उसके साथ उसका सम्बन्ध दृढ हो जाता है, तब वह भगवान्से कुछ विनोद-भंगिमाके साथ व्यवहार करने लगता है। यह भंगिमा सिद्धान्तकी नहीं, शैलीकी है। अधिकांश भक्तकवियोंने यह कहा है कि पतित और पतित-पावनमें होड़ पड़ गयी है। सूर कहते हैं, 'अबतक तुमने सामान्य पापियोंका उद्धार किया है और थोड़े से श्रम से ही पतित-पावनकी पदवी प्राप्त करली है। अब मुझ जैसे पतितसे पाला पड़ा है। आज मैं आपको पतित-पावनके विरुदसे वंचित कर दूंगा।' तुलसीदास में प्रायः इस प्रकारकी वचन भंगिमा नहीं मिलती। अन्नमाचारी भगवान्से कहते हैं, मुझ जैसे अधम और महापापी का उद्धार करनेमें ही तेरा बड़प्पन है। यदि हम पतित नहीं होते तो तुम पतित-पावनभी नहीं होते। अपने अवगुणोंकी क्षमायाचना करते हुए वे कहते हैं, भगवान् ! विवाहिता स्त्री चाहे किसीभी रूपमें हो, उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। अन्नमाचारी एक और उक्ति देते हैं, 'अपने शारीरिक दुर्गुणोंके लिये मैं नहीं, प्रकृति उत्तरदायी है। यदि मैं कपटाचार करता हूँ तो आपके द्वारा प्रेरित मायाही उत्तरदायी है, पेद्दतिरुमलाचारी कहते हैं, कि भगवान् भक्तों के बड़े से बड़े अपराधोंको भी क्षमा कर देते हैं। इसीलिये मैं बड़े बड़े सहस्रों अपराधोंको करता रहा। वे कहते हैं कि मैं अरिषड्वर्गोंसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ ? धूपसे छायामें जाने से कामना, शरीर पर बैठे हुए मच्छर को भगा देने मात्रसे क्रोध,

इष्टमन्त्र अन्योंको न बता देनेसे लोभ, नमस्कार करने वालोंको आशीर्वाद देनेसे मोह, और पेटभर भोजन करनेसे हम मदके शिकार बन जाते हैं। माता स्वयं श्रद्धासे शिशुओंका पालन-पोषण करती है। इसी प्रकार तुम्हेंभी मुझ जैसे पाप-पंकिल दासका स्मरण करके पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। जब मैं मायावश होता हूँ, मुझे अपना दास समझकर मेरी रक्षा कीजिये और अपने विरुदोंको सार्थक कीजिए।" वेन्नेलकंटि-जन्नय कहते हैं कि हे कृष्ण! गजेन्द्र, द्रौपदी, काकासुर आदि की अनेक रक्षा कथायें मैंने सुनी हैं। इन सब कथाओंको मैं तबतक झूठ समझूँगा, जबतक तुम मेरी विनती सुनकर मेरा उद्धार नहीं करोगे।'

उक्त विवेचनोंसे यह स्पष्ट होता है कि राम और कृष्ण भक्ति शाखाओं में दास्यभक्ति-धारा बहुत दूरतक एक साथ बहती है। आगे चलकर एक ऐसा भेद उपस्थित हो जाता है, जिसमें दोनों धारायें पृथक् होजाती हैं। इस भेदकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमिमें भक्तका भगवान्के प्रति एक रागात्मक घनिष्ठता का अनुभव और एक सात्विक गर्वसे संयुक्त विश्वास है। परिणामस्वरूप कृष्णभक्त कवि एक आत्मीयतापूर्ण वचन भंगिमाको अपनाने लगता है। यह भंगिमा बुद्धिजन्य नहीं, अपितु पिताके प्रति पुत्रके वचनोंकी भंगिमा है। आगे चलकर यह प्रच्छन्न सख्यके भावसे संयुक्त हो जाता है और भंगिमा आकर्षक हो जाती है। हिन्दीके सूर आदि और तेलुगु के अन्नमाचारी आदिकी पार्थिव-साधनाका यह अंग दास्यभावका शृङ्गार बन जाता है। तुलसी और पोतना जैसे रामभक्त कवियों की दास्यभावना और उनकी व्यंजना शैली इससे प्रायः मुक्त है। इनके द्वारा अपनी हीनता प्रदर्शित करनेकी जो अतिशयोक्तिपूर्ण शैली प्रयुक्त हुई है वह कृष्णभक्त कवियोंमें इष्टकी ऐश्वर्य भावना इतनी घनीभूत है कि इस प्रकार की भंगिमा उत्पन्न नहीं होती। दास्यकी यही भंगिमा आगे चलकर कृष्णभक्त कवियोंको वात्सल्य और माधुर्य जैसे मानवीय भावों की दिव्य परिणतिकी ओर आकृष्ट करती है। दोनोंही क्षेत्रोंके रामभक्त कवियोंमें ये भाव या तो आये ही नहीं हैं और यदि आये हैं, तो अपवादके रूपमें अथवा अनुवाद की विवशता से प्रेरित होकर आये हैं इस प्रकार दास्य भक्ति-सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तिभी दोनों ही क्षेत्रोंके कवियोंमें समान रूपसे मिलती है। हिन्दीके क्षेत्र में पीपा, धना, सदन जैसे भक्तों का उल्लेख है, तो तेलुगु क्षेत्रमें विष्णुचित्त, विप्रनारायणे, मालदासरि, यामुनाचार्य आदि भक्तोंके चरित्रों पर काव्य लिखे गये हैं। इस प्रकार जहाँ दास्य की मूलधारा समान है, वहाँ स्थानीय भेदके द्वारा दोनों क्षेत्रके कवियों ने सजीवता की सृष्टि की है।

जब मनुष्य हर प्रकारसे प्रयत्न करके निरुत्साहित हो जाता है, अधिक संकटोंसे घिर जाता है, साथी सँघाती, मित्र और सत्ताधारी साथ नहीं देते, तब गोस्वामीजीके कहनेके अनुसार 'निर्बलके बल राम' पर ही मनुष्य आ जाता है। अब प्रश्न इतना ही है कि भगवान्की आराधना कल्याणकारिणी, समाज हितैषिणी, अपनी उद्धारिका और धर्म तथा संस्कृतिकी रक्षिका किस प्रकार हो? क्योंकि ऐसी आराधना पर ही भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंका साथ दे सके थे। अब तो असहाय भारतके लिए 'आराधना' और चरित्र निर्माणको छोड़कर, उद्धारका अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

श्री तुकड़ोजी महाराज

"जैसे-जैसे आराधना बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे भगवान्के दिव्य ज्ञान और दिव्य शक्तिकी क्रीड़ाका मानव मन, प्राण, और देहमें अवतरण भी बढ़ता जायगा और श्री अरविंद–दर्शनके अनुसार एक समय ऐसा आयेगा, जब यह पृथ्वी भगवान्की क्रीड़ाके लिए सनातन वृन्दावन बन जायगी।"

आराधनाका विकास

श्रीकेशवदेव आचार्य

आराधनाके रहस्यको समझनेके लिए हमें अवतार शब्दके भाव पर ध्यान देना चाहिये।

मानव जातिकी प्रारम्भिक अवस्थामें जो मनुष्य पृथ्वी पर रहते थे, उन्हें हम चार श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणीके मनुष्य वे थे, जिन्हें सृष्टिकर्ताने मानव-जातिका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये भेजा था। वे सदा परमात्माके साथ योगयुक्त रहते थे। उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति, ज्ञान और ध्यानकी ओर रहती थी। ऐसे मनुष्यों पर ही वैदिक ऋचाओंका प्रकाश हुआ—यह कहा जा सकता है। गीताके शब्दों में उन्हें सात महर्षि कहा गया है। दूसरी श्रेणीके मनुष्य वे थे, जिन्होंने साधना करते हुए इन महर्षियोंकी सहायतासे ज्ञानको प्राप्त किया और उसे अपने व्यावहारिक जीवनमें लानेका प्रयास किया। तीसरी श्रेणीके मनुष्य वे थे, जिनके जीवनका केवल जीवन-निर्वाहके अतिरिक्त, कोई दूसरा ऊँचा उद्देश्य न था। उन्हें जन-साधारण या गीताके शब्दोंमें प्राकृत-जन कहा जा सकता है। चौथी श्रेणीके मनुष्य वे थे, जो निम्न कोटिकी राजसिक और तामसिक प्रकृतिके थे और किसी भी प्रकारका संयम करनेके अनिच्छुक थे। वे हर प्रकारकी उच्चकोटिकी प्रवृत्ति का विरोध करते थे। ऐसे मनुष्यों को असुर, अनार्य, दस्यु कहा जा सकता है।

इससे आगेके युगोंमें हम देखते हैं कि परमात्माका प्रयत्न होता है अपने दिव्य ज्ञान, दिव्य ज्योति और दिव्य शक्ति का धीरे-धीरे मनुष्यके मन, अन्तःकरण और प्राणमें अवतरण करना। ऋषि और योगी यह प्रयत्न करते हैं कि वे साधना करते हुए इस ज्ञान-ज्योतिको प्राप्त करें और उसकी प्राप्तिके लिए दूसरोंके लिए सरल मार्गका निर्माण करें। जन-साधारण का प्रयत्न यह होता है, कि वे अपनी कामनाओंकी पूर्ति करते हुए जितना भी सम्भव हो, ऐसे ऋषियोंके प्रयासमें सहायता करें और अपने आपको ऊँचा उठायें। इन युगोंमें ऐसे भी मनुष्य हुए, जिन्होंने इस ज्ञानका विरोध करने वालोंके साथ संग्राम करके उनका दमन किया और उनमें से जो ऊपर आरोहण करनेके लिए तैयार होगये, उनकी, ऊपर उठनेमें सहायता की।

मानव-जातिके प्रारम्भिक कालमें जो ऋषि प्रकट हुए थे, उन्होंने यह अनुभव किया था कि इस समस्त नाम, रूप, और क्रियावाले विश्वके मूलमें केवल एक तत्व है। उन्होंने उसे तत्, सत्, अक्षर, ईश, पुरुष, देव आदि शब्दोंसे निर्दिष्ट किया। उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना और उसके द्वारा अमृतत्व, देवत्व तथा परमानन्दको प्राप्त करना मानव-जीवनका उच्चतम लक्ष्य निर्धारित किया। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए जो श्रेष्ठतम साधन उन्होंने अन्वेषण किया, उसे उन्होंने 'यज्ञ' नाम दिया। वैदिक ऋषियोंकी दृष्टिमें यज्ञ शब्दके दो अर्थ थे—आन्तरिक एवं आध्यात्मिक और वाह्य एवं व्यावहारिक। यज्ञ का आन्तरिक आध्यात्मिक अर्थ था—जो कुछ भी मनुष्यकी अपनी सत्तामें है, उस सबको एकमात्र परमदेव या उसकी दिव्य शक्तियोंको अर्पण कर देना और इसके फलस्वरूप उनसे आध्यात्मिक ज्ञान, आनन्द, अमृतत्वरूप धन-ऐश्वर्यको प्राप्त करना। यज्ञका वाह्य अर्थ था इन्द्र, अग्नि, आदि देवोंके निमित्त, वेदके मन्त्रोंका उच्चारण करते हुये, विशेष-विशेष विधियोंसे स्थूल अग्निमें घृत आदि पदार्थोंकी आहुति डालना और इसके फलस्वरूप दीर्घ-जीवन, सन्तान, धन, पशु, वल, विजय, स्वर्ग आदि प्राप्त करना। वस्तुतः यज्ञ का यह वाह्य रूप पीछेसे विस्तृत हुआ (त्रेतायां बहुधा संततानि)।

परन्तु यह सब वैदिक वर्णन ऐसी अलंकार और प्रतीकमयी भाषामें हुआ, जिसका गूढ़ रहस्य अति प्राचीन ऋषियोंको तो ज्ञात था, किन्तु पीछे, धीरे-धीरे विलुप्त होने लगा। अतः आगे आने वाले ऋषियोंने उसे प्रतीक और अलंकारोंके लवादेसे निकालकर स्पष्ट और सरल भाषामें प्रकट करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्नके दो पृथक्-पृथक् रूप हुए। इनमें एक था कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधियों का प्रतिपादन, और दूसरा था आध्यात्मिक तत्वोंका प्रतिपादन। पहलेके द्योतक हैं 'ब्राह्मणग्रन्थ'। ब्राह्मणग्रन्थोंकी दृष्टिमें यज्ञ शब्द केवल बाहरी कर्मकलापके अर्थमें ही मुख्यतया प्रयुक्त होने लगा। उन्होंने यज्ञको जीवनके समस्त व्यवहारोंके साथ संयुक्त कर दिया।

दूसरेके द्योतक हैं उपनिषद्। वेदोंमें पहलेसे ही यह भाव विद्यमान था कि समस्त विश्वका मूल केवल एक तत्व है, जिसे उन्होंने तत्, सत्, अक्षर, ईश, पुरुष कहा है। उपनिषदोंने इन समस्त शब्दोंको स्वीकार करते हुए भी उसे आत्मा और ब्रह्म भी कहा और वहाँ यही दो शब्द प्रधानताको प्राप्त हो गये। उपनिषदोंने उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा, कि ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म, न ह्रस्व है न दीर्घ... वह रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंसे रहित, मन और वाणी की पहुँचसे परे है। उसे केवल 'नेति, नेति' कहा जा सकता है। उसे अव्यक्त, अचिन्त्य, अनिर्देश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्गुण, निराकार भी कहा जा सकता है।

यदि ब्रह्म इस प्रकार निर्गुण और निराकार है, मन और इन्द्रियोंके लिए अविषय है, तो उसकी प्राप्ति का साधन क्या है ? उपनिषदोंके समयमें चूंकि यज्ञ शब्द बाहरी कर्मकलाप के अर्थमें प्रयुक्त होने लगा था, अतः उसे उन्होंने ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए अनुपयोगी मानकर उसका परित्याग कर दिया। उन्होंने ब्रह्मकी प्राप्तिके दो साधन बतलाये—पहला ज्ञानमार्ग और दूसरा उपासना। ज्ञानमार्गके अनुसार उन्होंने बताया कि ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही ब्रह्म हो जाना है (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति)। अतः जिज्ञासु को ब्रह्मज्ञानी ऋषिसे ब्रह्मके

स्वरूपका श्रवण करके उसका मनन, चिन्तन करना चाहिये, और फिर उस पर निदिध्यासन करना चाहिए, (बृहदारण्यक २।४।५)।

परन्तु जो निर्गुण, निराकार है, उस पर मन कैसे स्थिर किया जाय ? इसके लिए कोई स्थूल अवलम्वन चाहिए। इसलिए ऋषियों ने ॐ को ब्रह्म का वाची माना और इसका जप करते हुये ब्रह्मकी उपासना करने का आदेश दिया।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् (मुण्डक २।२।४।)

परन्तु मानवका स्वभाव ऐसा है कि जिसमें कुछ भी गुण न हों, उसका चिंतन करना और उसे अपने ध्यानमें रखना उसके लिये कठिन होता है। इसीलिए उपनिषदों ने इस मार्गको, छुरेकी धार पर चलनेके समान ही कठिन कहा है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया)। गीताने भी अव्यक्त, अचिन्त्य, अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल, अक्षरकी प्राप्तिको बहुत अधिक क्लिष्ट कहा है। इसलिए ऋषियोंने ब्रह्ममें अनेक प्रकारके गुणोंका अनुसंधान किया। सबसे पहले उन्होंने देखा, कि वह सच्चिदानन्द है, अतः सत् चेतना और आनन्द उसके स्वरूप भूत गुण या धर्म हैं। इसके साथ-साथ चूंकि वह अपने अनन्त ज्ञानके द्वारा विश्वको सृष्ट करता है, उसमें व्याप्त रहता है, अपनी शक्तिसे उसका संचालन करता है, अतः वह सर्वज्ञ सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान् है। और जब समस्त विश्व उसका ही रूप है, तो समस्त गुण उसके गुण, समस्त कर्म उसके कर्म हैं। अतः उन्होंने उसे सर्वगंध, सर्वरस, सर्वकर्मा कहा और इस रूपमें उसके स्वरूपका चिंतन करनेका आदेश दिया (स क्रतुं कुर्वीत। छांदोग्य ३।१४)।

परन्तु अनन्त गुणवाले ब्रह्मको भी अपने ध्यानमें रखना मानव मनके लिए कठिन ही होता है। उसे तो ध्यानके लिये कोई बाहरी स्थूल रूप चाहिये। जिन्होंने निराकार ब्रह्म के ध्यानका अभ्यास किया है, वे इस कठिनाईका भली भाँति अनुभव करते हैं। अतः ऋषियों ने कुछ भौतिक पदार्थोंमें, ब्रह्मके सादृश्यको लेकर, उनके द्वारा ब्रह्मकी उपासनाका मार्ग निकाला। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापी है और आकाशभी सर्वव्यापी है, ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है और आदित्य भी प्रकाशस्वरूप है, अतः आकाश, सूर्य आदिको ब्रह्मका प्रतीक मानकर उपासना करनेका आदेश दिया और इस मार्ग को प्रतीकोपासना नाम दिया।

परन्तु मनुष्यका मन ईश्वरको मानवरूप में अधिक उत्तम रूपमें ग्रहण कर सकता है। वेदने ईश्वरको मनुष्यके समान मन, मुख, हाथ, पैर आदि अङ्गोंवाला मानकर उसके मनसे चन्द्रमा, मुख से अग्नि, चक्षु से सूर्य, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, पैरों से पृथ्वी की उत्पत्ति बतलायी है। उपनिषदोंने इसका अनुसरण करते हुए और भी स्पष्ट रूपमें अग्निको उसकी मूर्धा, चन्द्र और सूर्यको उसके नेत्र। वायुको प्राण और पृथ्वीको उसके पैर बतलाए हैं (मुण्डक २।१।४), और इस रूपमें उसका मनन, चिन्तन तथा ध्यान करनेका आदेश दिया।

इसके अनन्तर दर्शनोंका युग आता है। दर्शनोंने बुद्धि और तर्ककी सहायतासे

विश्वके मूल तत्वों के स्वरूपको निर्धारित करने तथा मनुष्यके उच्चतम लक्ष्यको प्राप्त करनेका प्रयास किया।

× × × ×

परन्तु ये सब मार्ग ऐसे हैं, जिन पर चलना जनसाधारणके लिए असंभव सा ही है। इन मार्गों पर चलनेके लिए तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि चाहिये। साधारण मनुष्योंको अपने और अपने बालबच्चोंके पालन-पोषणके लिए कृषि, व्यापार आदि कर्म करने होते हैं। उनके लिए तो भगवान्‌की प्राप्तिका मार्ग बन्द ही सा था। अतः उनके कष्टोंको देखकर जगत्पिता का हृदय द्रवित हुआ और उसने स्वयं ही मानव देहमें आकर अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिको छिपाते हुए साधारण मनुष्योंके साथ पिता, पुत्र, पति, मित्र, शत्रु आदिका सम्बन्ध स्थापित करके अपनी दिव्य लीलाकी। ऐसा करने में उद्देश्य यह रहा कि चूँकि उनकी समस्त क्रिया अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त प्रेमसे प्रेरित होती है, अतः जो मनुष्य स्थूल बुद्धिके कारण उनके वास्तविक स्वरूपको न समझ सकें, वे भी उनके संपर्कमें आकर उनकी ओर आकृष्ट हो सकें और अपने आपको उन्नत बना सकें। तथा जो मनुष्य उनके वास्तविक स्वरूपको समझ सकें, वे उनके जीवनकी स्थूल क्रियाओंका चिन्तन, मनन, कीर्तन करते हुए उसे प्राप्त कर सकें।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ गीता ९। ३२॥
जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ गीता ४। ९॥

इस प्रकार परमात्माके राम और कृष्णके, रूप में, मानव देहमें अवतीर्ण होने पर पौराणिक युग प्रारम्भ हो जाता है। चूँकि जन साधारणका मन ऐसे परमात्माकी ओर सरलता से आकृष्ट हो सकता है, जो उसकी दैनिक कठिनाइयोंमें उससे प्रेम करते हुए उसकी सहायता करे, अतः उन्होंने अपने इष्ट देवको परमात्मा या परमदेव कहनेके स्थान पर भगवान् कहना अधिक उपयुक्त समझा। ऐसे देहधारी भगवान्‌को सेवासे प्रसन्न किया जा सकता है। उपासना शब्दमें समीप बैठनेका भाव है, सेवाका नहीं! वह सेवाभाव भक्तिमें है। अतः पौराणिक युगमें उपासनाकी अपेक्षा भक्ति शब्द का उपयोग अधिक प्रचलित हो गया और भगवान्‌की प्राप्तिके लिए प्रयास करने वालों को उपासकके स्थान पर भक्त कहा जाने लगा। इस प्रकार यहाँ से भक्तिमार्ग अथवा भागवत धर्मका प्रारम्भ हो गया।

भक्ति जब बढ़ती है, तब भक्तके साथ भगवान्‌की आंतरिक और बाहरी क्रीड़ा होने लगती है। जैसे-जैसे भक्ति प्रगाढ़ होती जाती है तो भगवान्‌की क्रीड़ाभी अधिकाधिक रहस्यमयी होती जाती है। उसे प्रत्येक कर्म करते समय भगवान् से करने या न करने का संकेत मिलने लगता है। चलते फिरते इष्टदेवके सुन्दर रूपोंकी झलक आने लगती है। समय समय पर उनकी दिव्य वाणी सुनाई देने लगती है। कभी-कभी उनके साथ वार्तालापभी होने लगता है। कभी-कभी इष्टदेव स्थूल रूपमें भी दिखाई दे जाते हैं। इस स्थिति को भागवत में कपिलजीका यह वचन सुन्दर रूप से प्रकट करता है—

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥ (भा. ३ । २५ । ३५)

'हे माता मेरे भक्त मेरे हँसते हुए मुखवाले, तेजस्वी आँखों वाले साथ में मधुर बातें करते हुए, वर प्रदान करनेवाले दिव्य सुन्दर रूपोंको देखा करते हैं ।'

श्रीअरविन्दने इस भावको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'जब हृदय स्थित भगवान् के और हमारे बीचका पर्दा हट जाता है, तो मनुष्य उसके साथ आमनेसामने बात करता है, उसकी दिव्य वाणीको सुनता है, उसकी दिव्य ज्योतिको ग्रहण करता है, तथा उसकी दिव्य शक्तिमें रहता हुआ कर्म करता है ।' (ऐसेज ऑन दी गीता । अध्याय २)

[लेखक को ऐसे कुछ व्यक्तियोंके संपर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिनके साथ इस प्रकारकी क्रीड़ा सदा हुआ करती है । उनमें एक १६ वर्षकी लड़की थी । वह हर समय श्रीकृष्णको अपने साथ देखा करती थी । श्रीकृष्ण और किसीको दिखाई न देकर केवल उसे ही दिखाई देते थे । वह भोजन कराती तो उसमें से कुछ अंश कम हो जाता और उसमें किसी बालकके खाये हुए, जैसे दो दाँतोंका चिह्न आजाया करता था । उसके आसपास जहाँ श्रीकृष्ण बैठे होते, उतने स्थान पर वह चिह्न बना देती थी । वह उनसे सदा बातचीत करती रहती थी और यदि कोई दूसरा व्यक्ति प्रश्न करता तो उसका उत्तर श्रीकृष्ण से पूछकर बतला देती थी, जो बहुत रहस्यमय होता था । उस उत्तर से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता था कि वह उस लड़कीके मन से दिया हुआ उत्तर नहीं है ।]

देहधारी भगवानकी भक्तोंके साथ इस प्रकारकी आंतरिक और बाहरी क्रीड़ा उनकी प्रसन्नता पर निर्भर करती है । इसके लिये साधकके हृदयमें उनके प्रति प्रेम और उन्हें प्रसन्न करनेकी भावना होनी चाहिए । भक्ति शब्द में भी निःसन्देह इष्टदेवको प्रसन्न करने की भावना रहती है, परन्तु उसमें सेवाकी भावना अधिक है । प्रसन्न करनेकी भावना आराधना शब्द में अधिक स्पष्ट रूपमें विद्यमान है ।

जो अपने संकल्पमात्रसे ब्रह्माण्डको उत्पन्न और नष्ट कर सकते हैं, संपूर्ण पृथ्वीलोक जिनका परमाणु जैसा एक क्षुद्र अंश हैं, वही सर्व शक्तिमान परमेश्वर मानव देह धारण करके अपनी नित्य अर्धाङ्गिनी जगज्जननी जानकीजीके वियोगमें बनों में 'हा सीते ! हा सीते ! कहते हुए फिरते हैं । उनका दुःख इतना करुणापूर्ण है कि उसे सुनकर पत्थरभी द्रवित हो जाते हैं । वज्रका हृदय भी टूट जाता है (अपि ग्रावा रोदिति, अपि च दलति वज्रस्य हृदयम्) । जो उनकी प्रियतमा रहीं जिन्हें बंधनमुक्त करने के लिए उन्होंने हर प्रकार के कष्ट उठाये, जन-साधारणको संतुष्ट या प्रसन्न करनेके लिए उन्हीं का परित्याग करने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता । (जानकीमपि. आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा) । यह भगवान्की जनसाधारणके प्रति करुणाके कारण ही है । यदि भगवान् जनसाधारणकी

आराधना कर सकते हैं, तो केवल इसलिये कि जनसाधारण भी उनकी आराधना करते हुए उनके समीप पहुंच जायें। जो मनुष्य भगवान्‌की इस दिव्यलीला का अनुभव करना चाहते हैं और उसमें अर्जुन, राधा, आदि के समान उनके सखा बनना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि वे उनके प्रति हार्दिक प्रेम रखते हुए, उन्हें प्रसन्न करनेकी भावना से, अपने समस्त कर्मोंको उनकी सेवा में भेंट करते हुये उनकी आराधना करें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विष्णु भगवान्‌के परम पद पर पहुँचनेके लिए (तद्विष्णोः परमं पदम्) जो मानव यात्रा, यज्ञसे प्रारम्भ होती है, वह आगे मनन, चिन्तन और निदिध्यासन तथा प्रतीकोपासना का रूप धारण करती है। इससे भी आगे बौद्धिक तर्क पर और फिर भक्ति पर और अन्त में आराधना पर आ जाती है। जैसे-जैसे आराधना बढ़ती जायगी वैसे-वैसे भगवान्‌के दिव्य ज्ञान और दिव्यशक्तिकी क्रीड़ा का मानव मन, प्राण और देहमें अवतरण भी बढ़ता जायगा और एक समय ऐसा आयगा, जबकि यह पृथ्वी भगवान्‌की क्रीड़ाके लिए सनातन वृन्द:बन बन जायगी।

पूजन बेला

अपने हृदयों को पवित्रतासे भर लो, यह मेरे किसान की पूजन बेला है।

देखिये विशाल मंदिरके नगरोंकी तरह बादलोंकी गरज से दिशायें गूंज उठी हैं।

और किसान प्रातः बेलामें स्नान कर मांगलिक तिलक लगा सपत्निक पूजन स्थलकी ओर चल दिये हैं।

'वृक्ष' उन पर चंवर डुला रहे हैं, 'पक्षी' स्तवन गान कर रहे हैं।

नीराजनी के दीपकी तरह 'विद्युत' उसकी आरती उतार रही है और मेघ अभिषेक कर रहे हैं।

पूजन सामग्री की तरह किसान-बाला अपने अंचल में 'अक्षत बीज' लिये है।

विशाल धरतीके माथे पर, सूर्यका कुंकुम लगानेकी बेला में, वे जब, नैवेद्य की तरह रखे बीजोंको धरतीके चरणोंमें समर्पित कर देंगे, तभी प्रभु कृपाके आशीर्वादकी तरह खेत ही नहीं, समस्त मानव जीवन लहलहा उठेगा।

अपने हृदयोंको पवित्रता से भर लो। यह मेरे किसानकी पूजन बेला है।

श्रीरामनारायण उपाध्याय

"नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम् ।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम् ।।"

मुरली-नाद आराधना

श्रीगोस्वामीजी महाराज, श्रीराम कुटिया

नाद अनादि है । जबसे सृष्टि है, तभीसे नाद है । महाप्रलयके पश्चात् जब सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, 'एकोऽहम् बहुस्याम्', उसी समय इस अनादि नादकी भी आदि जागृति होती है । नाद ही परमज्योति है. और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि हैं । नादब्रह्म ही शब्दब्रह्मका बीज है । वेदोंका प्रादुर्भाव इसी नादसे होता है । परमेश्वरसे शक्ति, शक्तिसे नाद, नादसे विन्दु उत्पन्न होता है । यह विन्दु ही प्रणव है, इसीको बीज कहते हैं । कहा है—

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्विन्दु समुद्भवः ।।
नादो बिन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः ।।

यही नाद क्रमशः स्थूल रूपको प्राप्त होता है, जिससे संसारका प्रसार होता है । पंचभूतोंमें प्रथम आकाशका गुण शब्द है, यह नादका ही एक रूप है । इस प्रकार आदि नाद रूप बीजसे ही पंचतत्त्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है । ब्रह्म-ग्रन्थिमें प्राण रहता है, प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है । अग्निमें आत्माकी प्रेरणा अनुस्यूत है, अतः प्राणवायु, अग्नि एवं चित्तके द्वारा नादको उत्पन्न करती है । यह नाद नाभिमें अतिसूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और वदनमें कृत्रिम रूपसे आकार धारण करता है । अतएव 'न' कार प्राण है और 'द' कार वह्नि है । प्राण और अग्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही 'नाद' कहा जाता है ।

योगीगण इसी नादकी आराधना करके ब्रह्मको प्राप्त करते हैं । वे मुक्तासन तथा साम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास करते हैं । अनाहत नाद योगियोंका परम ध्येय है, नाद-साधनासे वे सब प्रकारनी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं । नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका सम्यक् साधन माना गया है । नादका माहात्म्य अपार है । कहा है—

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि ।।

सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही अपने वक्षःस्थलमें सदा तुम्बी धारण किये रहती हैं। संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है। गीत, वाद्य और नृत्य नादात्मक हैं। नाद द्वारा वर्णोंका स्फोट होता है, वर्णसे पद, और पदसे वाक्य बनता है। इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है। यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब-जब भगवान् लीला-धाममें अवतीर्ण होते हैं, उनके दिव्य विग्रहमें जितनी वस्तुएँ होती हैं, वे सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्-स्वरूपा होती हैं। यही कारण है कि अवतार-विग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको बार-बार सुननेसे भी चित्तकी तृप्ति नहीं होती। यदि लाखों-करोड़ों कानोंसे भी उस मधुर-ध्वनिको सुने तब भी तृप्ति होनी असम्भव है। चिदानन्दमय श्रीकृष्ण स्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ, श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही तो यह नादावतार था। यही कारण है कि उस मुरली-निनादने प्रेममय-व्रजधाममें जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना दिया। मोहनके वेणु-निनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबाल-वृद्धमें, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें और कण-कणमें प्रेमानन्द भर दिया। उस वंशीके नादको सुनकर विमानोंमें चढ़ी हुई सुर-बालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया। वे सहसा मुग्ध हो गयीं। उनकी कवरियोंमें गूँथे हुए नन्दन-काननके कमनीय कुसुम हठात् खिसककर मर्त्य-भूमि पर गिर पड़े। गन्धर्व कन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं। ऋषि, मुनि, तपस्वी, त्यागी, ज्ञानी तथा योगियोंकी ब्रह्म समाधि भंग हो गयी। बरबस उनका मन वीणा स्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न होगया। सुधाकरकी चाल मन्द पड़ गयी।

श्रीकृष्णके उस वेणु-विनिर्गत ब्रह्ममय नादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंका चूसना छोड़कर,केवल उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ घास चरना भूल गयीं, सुरम्य वृन्दावन के विहंगोंने मधुर-काकलीका परित्यागकर वंशी-ध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय आनंदका उपभोग करनेके लिये आँख मूँद ली और श्रवण-पात्रोंका मुख उस सुधा-धाराके लिये प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-मृगादि वनचर प्राणी भय और हिंसा भूलकर मुरली-मनोहरको चारों ओरसे घेर कर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंकी अतृप्तिको प्रकट करने लगे। कालिन्दी अपनी ऊर्मि-भुजाओंको फैलाकर परम प्रियतमका आलिंगन करनेके लिये दौड़ पड़ी। इसप्रकार दिव्य-धामकी दिव्य सुधा-धारा समस्त धारा-मण्डलमें बह चली। चेतन जीव जड़वत् अचल होगये। साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्ष ही नहीं, सूखे काठ तक रस बरसाने लगे। मुरली-निनादकी आराधिका गोपिकाओंकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए भागवतमें भगवान् वेदव्यासजीने कहा है—

मुरहर ! रंधन समये मा कुरु मुरली रवं मधुरम् ।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतर ताम् ॥

—हे मुरारे ! भला, भोजन बनानेके समय तो, कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो। देखो, तुम्हारी मुरली-ध्वनिसे चूल्हेकी भी आग बुझ जाती है, जिससे सूखे इंधन जलनेकी अपेक्षा रसयुक्त होकर रस बहाने लगते हैं।

मोहनकी जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया, तीनों लोकमें कोई भी उससे नहीं बच सका। बचता भी कैसे ? जगत् चराचरकी जननी नादात्मक यह 'मुरली' ही तो है। समाधिनिष्ठ योगियोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालने वाली, सुधाके माधुर्यको तुच्छ बना देने वाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करने वाली, और चतुर्दिक् विजय दुन्दुभी बजाकर सबको अपने शासनमें रखनेवाली भगवान् श्रीकृष्ण की यह वंशी-ध्वनि विश्वमें चारों ओर विजयिनी हो रही है। वृन्दावन-निवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था, जो वे इस वंशी-ध्वनिको सुना करते थे। गोपीजनके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते थे, जिन्हें बुलानेके लिये मोहन स्वयं अपनी मुरलीकी मधुर तान छोड़ा करते थे। वे सब नाद सुनती थीं, मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परन्तु वे फिर भी मुरली-ध्वनि सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। सन्ध्यामें गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, तब ब्रज-बालाएँ झुण्डके झुण्डमें घरोंसे निकलकर मार्गमें उनकी प्रतीक्षा किया करती थीं।

एक दिन एक ब्रज-गोपी मुरली-ध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर द्वार पर खड़ी थी। उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका बखान करती हुई, दूसरी महाभाग गोपी बोल उठती है—

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै, बिंध-जाउगी नैन के बानन में।
यह बंशी 'निवाज' भरी विष सों, बगरावति है विष प्रानन में॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी - भटू, भँवरौ जब मीठी - सी तानन में।
कुल - कानि जो आपनि राखि चहौ, दै रहौ अँगुरी दोउ कानन में॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित ब्रजधामकी कुछ अनुभूति कविके उपर्युक्त शब्दोंसे प्राप्त की जा सकती हैं। एक दूसरी गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—वह बाँसके साथ, बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना करके, उसे वंशका नाम कलंकित करनेवाली बताती है—

वे मगदायक अंधनिकों, तुम अच्छिनहू की चाल बिगारचौ।
वे जल - थाह बतावत हैं, तुम प्रेम - अथाहके बारिधि पारचौ॥
वे वर वास बसाये भले, तुम बास छुड़ाय उजार में डारचौ।
का कहिये, हरिकी मुरली, तुम आपने वंस कौ नाम बिगारचौ॥

एक और अन्य गोपी कहती है—'अरी मुरली ! तेरे भाग्यका क्या कहना है'—

अधर सेज नासा विजन, स्वर मिल चरन दबाय।
अरी सुहागिनि मुरलिया, लियो स्याम बिलमाय॥

एक और मुरलीसे ईर्ष्या करती हुई बड़े विनम्र शब्दोंमें पूछती है कि—'मुरली ! कौन तप तैं कियो ?'

मुरली स्वयं उत्तर देती है—

वेणुवर्यः श्रृणु तं प्रिय तवापि विदितं तथा ।
द्विज आसीच्छान्त मनास्तपः शांति परायणः ॥
नाम्नो देवव्रतो दान्तः कर्म काण्ड विशारदः ।
स वैष्णव जन व्रात मध्यवर्ती क्रिया परः ॥
स कदाचन शुश्राव यज्ञेशोऽस्तीति भूपते ।
तस्य गेह मथाभ्यागाद् द्विजो मद्गत निश्चयः ॥
स मद्भक्तः क्वचित्पूजां तुलसीदल वारिणां ।
कृतवांस्तद्गृहे किंचित् फलं मूलं न्यवेदयत् ॥
स्नान वारिफलं किंचित्तस्मै प्रीत्या ददौसुधीः ।
अश्रद्धया स्मितं कृत्वा सोऽप्य गृह्णद्द्विजन्मनः ॥
तेन पापेन संजातं वेणुत्वमति दारुणम् ।
तेन पुण्येन तस्याथ मदीय प्रियतां गतः ॥
अमुनासोऽपि राजेन्द्र केतु मानिव राजते ।
युगान्ते तद्विष्णुपुरो भूत्वा ब्रह्म समाप्स्यति ॥

(पद्मपुराण पाताल० ७३।३६-४२)

सूरदासजीके निम्नांकित पदमें भी मुरली का उत्तर देखिए—

तप हम बहुत भाँति करचौ ।
हेम बरिखा सही सिर पर, घाम तनहिं जरचौ ॥
काटि बेधी सप्त-सुर सों, हियो छूँछो करचौ ।
तुमहिं बेगि बुलायबे कौ, लाल अधरन धरचौ ॥
इतने तप मैं किये तब ही, लाल गिरधर वरचौ ।
'सूर' श्रीगोपाल सेवत, सकल कारज सरचौ ॥

मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सहन की, ग्रीष्मकी ज्वालामें तनको तपाया। काटी गयी, शरीरको सात स्वरोंसे बिंधवाया। हृदयको शून्य कर दिया। कहीं भी कोई गाँठ नहीं रहने दी। फिर कहीं लालने मेरा वरण किया है। श्रीगोपालकी सेवासे सभी काम पूर्ण हो गए।

प्राणधन श्रीकृष्णके चरणामृत-पानकी कामना करनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी आराधनाका अनुकरण करना चाहिये। स्मरण रहे, जब तक लौकिक सुख-दुखमय समता, सहिष्णुता नहीं आ जाती, प्रभु प्रियतमके लिये तन-मनकी वलि नहीं दे दी जाती और हृदयको अन्य वासनाओंसे शून्य नहीं कर लिया जाता; प्रियतम प्यारे श्यामके मधुर दर्शन का सुख हमें नहीं मिल सकता।

मोहनकी मुरली आज भी वृन्दावनमें सेवा-कुंजमें बजती है, वह सदा इसी प्रकार बजती ही रहेगी। परन्तु जो मुरलीकी भाँति सरल-हृदय होगा, वही मुरलीकी मधुर-ध्वनिको सुन सकेगा। प्रातः स्मरणीय भगवत्सखाओं, शक्ति-स्वरूपा गोपिकाओं और सन्त-भक्तगणोंने अपनेको मुरलीकी आराधनाके साँचेमें ढाल करके ही मुरलीकी मनोहर, मधुर-ध्वनिको सुन पाया है।

मुरलीमें क्या स्वरित होता है और उससे जगत्‌को क्या मिलता है? इसका उत्तर इसप्रकार है—"भगवान् अपने अनिवर्चनीय आनन्द और दिव्य ह्लादिनी-सुधाका रसास्वादन मुरलीकी मधुर-ध्वनिके द्वारा ही सबको कराते हैं। 'कलं वामदृशां मनोहरम्।' इस कल्पदामृत वेणु-गीतसे 'क्लीं' पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल क्ल। इसमें चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करने पर क्ली बनता है। यह मनोहर है अर्थात् मनके देवता, चन्द्रको कला सहित हरण करता है, नरककी ओर आकर्षित करने वाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध बनाता है, तथा पतनकी ओर ले जाने वाले गन्दे कामोंके जालसे छुड़ाता है चित्तमें पूर्णानन्दका संचार करता है। इसकी बड़ी महिमा है। यह श्रीराधा-कृष्णके दिव्य मिलनका सोपान है। भगवान्‌की लीलाका विकास इसीसे—क्लीं रूप मुरली-निनादसे ही होता है। मुरली-नाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है, ब्रह्म रूप है। यही नाद ब्रह्म है, नाद ब्रह्मका साक्षात् अवतार मुरली है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌का जीवन बहुमुखी रहा है। बचपनसे लेकर बुढ़ापे और मृत्यु तक जिन अवस्थाओंमें से मनुष्यको गुजरना पड़ता है, उनमें उन्होंने अद्भुत और आदर्श काम किया है और इसीलिए उनको हिन्दू-धर्ममें पूर्ण पुरुषोत्तम माना गया है। उनका जीवन, जीवन-कार्य और जीवन-सिद्धान्त सभी मानव-जीवनके लिए परम हितकारी, कल्याणकर है। शायद संसारमें वे पहले ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने सबसे पहले भले-बुरे, पीड़ित, पतित, असमर्थ, आबाल-वृद्ध, अपढ़-कुपढ़ सभी के लिए अपने द्वार खोल कर कहा कि जो भी मेरी तरफ आयेगा, मेरी राह पर चलेगा, वह मेरा है और वह मुझे अवश्य पा लेगा। रामके दरबारमें हमको नियम, विधान, मर्यादाके अनुकूल ही रहना पड़ता है। परन्तु कृष्णका दरबार सबके लिए खुला था। वहाँ एक जाजम पर या धूलमें सभीके साथ बैठ कर उनके साथ बातें कर सकते थे और कर लेते थे। ऐसे अद्भुत क्रांतिके जन्मदाता श्रीकृष्णको हमारा बारम्बार प्रणाम!

श्रीहरिभाऊ उपाध्याय

"आराधनाका मुख्य तत्व है समर्पण, सर्वस्वार्पण। अर्पण किसे ? यह प्रश्नही असंगत है, क्योंकि प्रेमोत्कर्षके परिणाम स्वरूप, अहैतुकी भक्तिका एकही विषय हो सकता है, और वह है परमात्मा, परमेश्वर।"

श्रीकृष्णकी आराधना, समर्पित जीवन

श्री ति० न० आत्रेय

आराधना

'हाथ जुड़े हुए हैं। सिर नमा हुआ है। गात्र रोमांचित है। स्वर गद्‌गद है। आँखोंसे अश्रु वह रहे हैं। निरन्तर तेरे चरण-कमलोंके ध्यानरूप अमृतको पी रहे हैं - ऐसी स्थितिमें, हे कमलनयन, हमारा जीवन सतत बीते।'

भक्त की आर्त पुकारकी यह एक बानगी है। भक्तकी मनोदशाका इसमें यथार्थ चित्रण है। भक्ति वही है, जिसमें अपने प्रेम भीने चित्तके समाधानके सिवा किसी प्रकारके वास्तविक अथवा काल्पनिक सुख या फलकी इच्छा न हो, अपने इष्टदेवके प्रति अपने प्रेम की अतिशयताके कारण मात्र छटपटाहट हो, व्याकुलता हो।

इस प्रकार का अहैतुक शुद्ध प्रेमयुक्त हृदय मनुष्यकी अमूल्य सम्पत्ति है।'निरतिशय और अहैतुक प्रेमार्द्रता ही भक्ति का हार्द है।'

भक्तिवशताकी एक अवस्था वह होती है, जिसमें भक्त अपने उपास्यको अपने जीवनमें साकार करना चाहता है, मूर्त बनाना चाहता है, उसके समीप पहुँचना चाहता है, उसका मानों स्वयं अपरावतार ही बनाना चाहता है। इसे सामान्यतया 'उपासना' नाम दिया जाता है।

जैसे संत तुलसीदास श्रीरामके उपासक थे। स्वामी रामदास भक्त-शिरोमणि हनुमान्‌के उपासक थे, चैतन्य प्रभु राधाजीके उपासक थे।

दूसरा प्रकार यह कि भक्त अपने इष्टदेवके लिए अपना सर्वस्व अर्पित करनेका प्रयत्न करता है। जैसे, हनुमान् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, शौर्य आदि गुणोंके उपासकथे परन्तु उन्होंने अपना जीवन प्रभु रामचन्द्रको समर्पित किया था और इसी लिए वे रामभक्त कहलाये। स्वयं रामचन्द्र सत्यनिष्ठा, स्वाभिमान, राजकौशल आदि गुणोंके उपासक थे, परन्तु भक्तथे अपने माता-पिताके, प्रजाके। इस समर्पणवृत्तिको सामान्यतया 'भक्ति' कहते हैं।

तीसरा प्रकार है, जिसमें आदर्श पुरुषको अपने सामने प्रत्यक्ष देखनेकी आकांक्षा रखते हुए उसका गुणगान करना। इसमें उस इष्टदेव या अवतारको प्रत्यक्ष जीवन समर्पित करना संभव नहीं होता, क्योंकि वह परोक्ष होता है और न उसके साथ तद्रूप बना जा सकता है, क्योंकि वह वसके बाहर की बात होती है। ऐसी स्थिति में उस प्रकारके दूसरे व्यक्तिके साक्षात्कारकी उत्कण्ठा रखते हुए उसके प्रति पूज्य भाव प्रकट करना और उसका गुणगान करना होता है। इसे सामान्यतया 'आराधना' कहते हैं।

चौथा, पाँचवाँ आदि अनेक प्रकार हैं, लेकिन यहाँ इन भेदोंका विचार नहीं करना है, बल्कि आराधना शब्दका व्यापक अर्थ ही यहाँ अभिप्रेत है। इष्टदेव या ईप्सित गुणसे एकरूप बनना, उसके लिए जीवन का समर्पण, उसके सदृश पुरुषको प्रत्यक्ष जीवनमें प्राप्त करनेकी अभिलाषाके साथ उसके चरित्रका चिन्तन, गुणानुवाद, या उसकी काल्पनिक मूर्तिकी पूजा-अर्चना आदि सभी प्रकारोंका समावेश यहाँ 'आराधना' शब्दमें माना है।

इस अर्थमें आराधनाका मुख्य तत्व है समर्पण, सर्वस्वार्पण।

अर्पण किसे ? यह प्रश्न ही असंगत है, क्योंकि प्रेमोत्कर्षके परिणाम-स्वरूप, अहैतुकी भक्तिका एक ही विषय हो सकता है और वह है परमात्मा, परमेश्वर। अन्य किसी देवता की भक्ति अहैतुकी नहीं हो सकती, सकामही होती है।

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्णका चरित्र कई ग्रन्थोंमें मिलता है। एकतो भागवत में है। श्रीकृष्णमें भगवद्भाव आरोपित कर भागवतकी रचनाकी गयी है।

महाभारतमें भी कृष्ण-चरित्र है, परन्तु प्रत्यक्ष जीवन-चरित्र उसमें भी पूरा नहीं है। उसके लिए हरिवंश पुराणका सहारा लिया जाता है।

छांदोग्योपनिषद्में भी श्रीकृष्णका वर्णन मिलता है। उसमें लिखा है कि 'देवकीपुत्र कृष्ण घोर आंगिरस ऋषिके पास पहुँचे और उस ऋषिने इन्हें विद्या सिखायी— "तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वा उवाच अपिपास एव बभूव (छां ३-१७-६)। देवकीपुत्र कृष्ण यही थे।

घोर आंगिरस श्रीकृष्णके आध्यात्मिक गुरु थे और उन्होंने जो विद्या श्रीकृष्णको सिखायी, वह 'तृड्विच्छेदकरी पुरुष यज्ञविद्या' अध्यात्मविद्या ही थी, जो गीता का पूर्वरूप है।

भागवतमें श्रीकृष्णके गुरु संदीपन बताये गये हैं। हो सकता है कि आज-कलकी तरह प्राचीन कालमें भी विद्यागुरु और अध्यात्म गुरु भिन्न होते हों। उस तरहसे संदीपनमुनि श्रीकृष्णके विद्यागुरु हों, और घोर आंगिरस ऋषि आध्यात्मिक गुरु।

श्रीकृष्णका जीवन इस अध्यात्म-विद्यासे परिपूर्ण है। इस कारण उनका जीवन अलौकिक है, दिव्य है।

श्रीराम और श्रीकृष्ण, दोनों समान रूपसे अवतार कहलाये, पर दोनोंमें महान् अन्तर है। राम 'राजाराम' कहलाये, तो कृष्ण 'गोपालकृष्ण' कहलाये। वैसे, कृष्ण भी राजा थे, लेकिन उनकी ख्याति राजाके नाते नहीं थी, गोपालकके नाते थी।

रामने बन्दरों तकसे सेवा ली, कृष्णने गोपों और गायों तक की सेवा की। रामके सिर पर दूसरों ने अभिषेक किया, कृष्ण ने दूसरेके सिर पर अभिषेक किया। घोर आंगिरस ने जो विद्या कृष्णको दी, उसका कृष्णने पूरा उपयोग किया। आज तक ऐसा दूसरा पुरुष नहीं हुआ, जो उतना महान् होकर इतने सामान्य मनुष्योंके साथ तन्मय हुआ हो। अर्जुन श्रीकृष्णसे १८ वर्ष छोटा था। श्रीकृष्णकी योग्यता सबको ज्ञात थी। अग्रपूजाका अधिकार भी उन्हें मिला था। परन्तु अर्जुनका सारथ्य श्रीकृष्णने स्वीकार किया। राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसे काम मांगते हैं और कहते हैं—'मैं दासानुदास हूँ।' युधिष्ठर कहते हैं—'आप जो भी काम लेना चाहें, ले लीजिए।' और श्रीकृष्णने जूठे पत्तल उठानेका काम ले लिया। घोर आँगिरसकी आत्मविद्याके लिए श्रीकृष्ण सर्वथा योग्य व्यक्ति थे।

गीतामें जितने यज्ञ बताये गये हैं, उनकी संक्षिप्त व्याख्या की जाय तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा—"पुरुषो वा वा यज्ञः"—'मनुष्य-जीवन ही यज्ञ है'। मनुष्यका जीवन जितना पवित्र होगा, वह साधारणतया उतना ही दीर्घायु होगा। साधारण आयुकी मर्यादा सौ वर्षकी मानी जाती है। घोर आंगिरस ने आयुकी अवधि १०० से ११६ तक यानी सोलह वर्ष बढ़ायी। और श्रीकृष्णने चार वर्षकी और वृद्धि की। १२० वर्ष की अवस्थामें श्रीकृष्णकी जीवन-लीला समाप्त हुई। ऋषिकी विद्या शिष्यके जीवनमें पूर्णरूपसे दीखती है। जीवनयज्ञसे दीर्घायु, सत्य, अहिंसा, आर्जव आदि गुण प्राप्त होते हैं और वे सभी गुण श्रीकृष्णमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

श्रीकृष्णके समान ही एक वैदिक ऋषि वामदेवका उल्लेख मिलता है और अनुल्लिखित असंख्य ऋषि भी हैं, जिन्हें परिपूर्ण विश्वात्मदर्शन हुआ था। इन सबके जीवनमें और विचार-पद्धतिमें अन्तर हो सकता है, लेकिन सबमें दो बातें समान हैं। एक है पूर्ण निरहंकारिता और दूसरी है, जो इसीमेंसे उत्पन्न होती है, 'आत्मज्ञानके उपरान्त पूर्व-चरित्रसे संबन्ध विच्छेद।'

श्रीकृष्ण गीतामें जिस भूमिका पर पहुँचे हैं, वह पूर्ण आत्मदर्शनकी भूमिका है। इस का अर्थ यह कि उसमें श्रीकृष्णका पूर्व-चरित्रसे संबंध बिलकुल समाप्त हो जाता है। ऐतिहासिक कृष्णसे गीताके कृष्णका कोई संबंध नहीं रहता। इसलिए कृष्णकी जीवन-घटनाओंका गीताके उपदेशोंसे मेल बैठानेकी आवश्यकता नहीं है, न उसके पूर्व-चरित्रको गीताके उपदेशोंका उदाहरण मानने की। विभूतियोगमें 'वृष्णीनां वासुदेवोस्मि' कह कर इसी बात का संकेत भगवान्ने किया है। ऐतिहासिक कृष्ण गीताके कृष्ण का मात्र एक अंश हैं, एक विभूति हैं।'

इसी लिए भक्तजन कृष्णको पूर्णावतार मानते हैं और उनके कृत्योंकी लीला करते हैं, उनके चरित्रका दैवीकरण करते हैं। इससे होता यह है कि उनके चरित्रसे उनका संबंध टूट जाता है। लीलाका चाहे जो अर्थ करें, परन्तु उससे कोई अनैतिक भावना प्राप्त नहीं की जा सकती। कृष्णकी चोरी करने की लीलाकी नकल न भक्तजन करना चाहते हैं, न उसकी आवश्यकता ही है। कृष्णकी ओर देखने की हिन्दुओंकी दृष्टि भक्तों की दृष्टि है।

गीताके कृष्ण अलौकिक हैं। गीताका वैशिष्ट्य यह है कि वह आत्मानुभवकी भूमिकामें लिखी गयी है। उसमें मानवकी अंतिम स्थितिका दर्शन है। अपने आपको भगवान्‌के हाथों सर्वथा अर्पण करना आत्मज्ञानकी एक भूमिका है और दूसरी भूमिका है स्वयं अपनेको ब्रह्म जानना। वामदेव और गीताकी भूमिका दूसरी भूमिका है। 'मैं ही भगवान् हूँ, ईश्वरीय विधान मेरे हाथमें है, आर्योंको भूमि मैंने दिलायी'—इस प्रकार आत्माको जो पहचानता है, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक है और उपनिषद्‌के ऋषिने कहा है कि ऐसा ज्ञान वामदेवको था।

गीता प्रारम्भसे अंत तक इसी भूमिका पर है। तीसरे अध्यायमें कहा, 'पुराने युगमें मैंनेही दो निष्ठाएँ बतायी थीं, चौथेमें कहा, 'यह योग मैंनेही सूर्यको कहा था।' और दसवें अध्यायमें पूरा विभूति-वर्णन है। ग्यारहवेंमें छोटेसे शरीरमें सारे विश्वका प्रत्यक्ष दर्शन कराया। अठारहवेंमें 'सारे धर्म छोड़कर मेरी शरणा आओ' कहा। समग्र गीता इसी भावमें रँगी हुई है।

ऐसा अंतिम भाव प्राप्त होने पर भी कृष्ण बोले, बोलते हुए भी अपनेको संभाला, आदिसे अन्त तक ईश्वरकी भूमिका निभायी, यह अत्यन्त महत्वकी बात है। महाराष्ट्रके संत ज्ञानदेव कहते हैं—"पैं मूर्तचिनिमेलें। तो मूर्त चि होउनि खेले। परी अमूर्तपण न मैले। दादुलयाचें"—(ज्ञानेश्वरी ५-८१)–वह देह की सगतिमें देही बन कर अवतारलीला करता है, परन्तु उस अचिन्त्य प्रभुका अमूर्तपन, निर्गुणपन कभी नष्ट नहीं होता।'

श्रीकृष्णकी आराधनामें कृष्णके व्यक्तित्वका यह विचार विशेष उपयोगी है।

श्रीकृष्णकी आराधना

श्रीकृष्णकी आराधनाके लिए क्या कृष्ण-चरित्रका कुछ उपयोग है? गीतामें श्रीकृष्ण जिस भूमिका पर पहुँचे हैं, उसको देखते हुए या तो उनके पूर्व-चरित्रको भूल जाना पड़ता है या तो केवल लीला-स्वरूप मानना पड़ता है। फिर भी उस लीला-चरित्रका कोई नैतिक उपयोग हो सकता है?

गीतामें इसका उत्तर है। दसवें अध्यायमें भगवान्‌से अर्जुनने पूछा कि मैं आपका किन-किन भावोंमें चिन्तन करूँ? भगवान्‌ने कुछ भाव बतलाये और कहा कि मेरे भाव अनन्त हैं, सारा विश्व परमात्ममय है। स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न भाव चिन्त्य हैं, उनका उपयोग चिन्तनके लिए है, वे अनुष्ठेय नहीं हैं, उनका अनुकरण नहीं हो सकता। भगवान् कहते हैं कि 'कपट-विद्यामें मैं द्यूत हूँ'—तो इसका अर्थ यह नहीं कि भक्त जन जुआ खेलने लगें, बल्कि यही चिन्तन करना है कि भगवान्‌का रूप सबमें ओत-प्रोत है। इस चिन्तनका लाभ जीवन को मिलेगा और उसका प्रभाव हमारी कृति पर पड़ेगा।

लीलाचरित्रका आशय क्या है? लीलाचरित्र कावर्णन करनेवाले ऋषियों और पूर्वाचार्योंका अभिप्राय दो बातोंमें दीखता है--एक 'आत्माकी अलिप्तता, और दूसरी 'पावनता'।

कृष्ण चरित्रमें दर्शाया गया है कि उन्होंने जो भी कुछ किया, उसमें किसीमें वे लिप्त नहीं हुए। उस वर्णनमें देहातीत आत्माके दर्शन होते हैं। उनके कार्य उन्हें स्पर्श नहीं करते। उन्होंने चोरी की, परन्तु चोर साबित नहीं हुए। गीतामें प्रतिपादित अलिप्तता यही है।

दूसरी बात, जहाँ-जहाँ उनका स्पर्श हुआ, वहाँ-वहाँ पावनताका संचार हुआ। पूतनाका द्वेषभावसे, कुब्जा का भक्तिभावसे, अर्जुन और उद्धवका ज्ञान-भावसे, कंस और शिशुपाल आदिका वैर भावसे कृष्णस्पर्श हुआ, लेकिन इनको पावनता मिल गयी। माता प्रेम से अपने पुत्रको चांटा मारती है। चांटा जोरसे लगे तो भी माताका प्रेम सदैव ही रहता है। कंस शिशुपाल आदिको मारते समय भगवान्‌की करुणा ही थी, नहीं तो उन्हें सद्‌गति देने का क्या अर्थ है?

इस प्रकार अलिप्तता और प्रेम भाव श्रीकृष्णमें प्रधान हैं। कृष्णकी आराधनामें मनुष्य को अपने जीवनमें इन दोनों भावों का उपयोग देखना चाहिए।

घरमें चोर आया तो उसे पकड़कर मारता हूँ, तो मैं कृष्णभक्त नहीं हूँ। चोरको देखकर मुझे लगना चाहिए कि मेरे घर भगवान् आये हैं। भगवान्‌के साथ जिस प्रकार पेश आता होऊँ, उसी प्रकार चोरसे पेश आना चाहिए। एकनाथ, तुकाराम आदि संतोंके जीवन में ऐसे उदाहरण देखनेको मिलते हैं। यह कृष्ण-चरित्रका अनिवार्य परिणाम है। यदि हम समझते हैं कि हर मनुष्यके हृदयमें भगवान् हैं, तो हमारे हृदयको पापका स्पर्श नहीं होता।

जीवनमें इस अनुभवको प्राप्त करनेमें मनुष्यका समूचा दृष्टिकोण बदल जाता है, जीवन अहिंसामय बन जाता है, प्रत्येकसे सेवा और प्रेमके द्वारा ही व्यवहार करनेकी भावना बनती है और दूसरोंके लिए अपना सर्वस्व अर्पण करनेकी वृत्ति और निष्ठा बनती है।

जो मनुष्य मुँहसे कहता है कि मैं ईश्वरभक्त हूँ, कृष्णका उपासक हूँ, वह आस्तिक ही होना चाहिए, सो बात नहीं है; और न वह नास्तिक हो जाता है—जो मुँहसे कहता है कि मैं ईश्वर को नहीं मानता। लीलाचरित्रसे जीवनका उपयोगी तत्व यही मिलता है, मिलना चाहिए कि मनुष्यके साथ, भूतमात्रके साथ हमारा व्यवहार भावनामय होना चाहिए, यही आस्तिकता है और इसके विपरीत आचरण नास्तिकता है।

प्रारम्भमें हम देख चुके हैं कि जहाँ समर्पण नहीं, अहैतुकी प्रीति नहीं, निरतिशय प्रेमोत्कर्ष नहीं, वहाँ सकामता होती है और इसी लिए वह अन्य देवता-भक्ति होती है, परमात्म-भक्ति नहीं।

अन्य देवता-भक्ति में निश्चित साधन-सामग्रीकी और द्रव्य-विशेषकी आवश्यकता होती है। विधिमें जराभी भूल हुई कि सारी आराधना विफल हो जाती है और कभी-कभी भक्त पर विपत्तिभी आ सकती है।

परन्तु जीवमात्रके परम सुहृद् परमात्माकी भक्तिमें ऐसी बाधा नहीं है। यहाँतो केवल एकही बातकी अपेक्षा है और वह यह कि सच्चा भाव होना चाहिए। ईश्वरके ऐसे भक्तिपूर्ण उपासकके पास पत्र, पुष्प, जल या फल जैसे न-कुछसे साधनहों तो भी वह परमेश्वर की आराधना कर सकता है और मूल्यवान् सपत्ति अर्पण करनेवाले सम्राट्से अधिक कृतार्थ हो सकता है। क्योंकि परमात्मा केवल उसके भावको तोलता है, उसकी समर्पित संपत्तिकी कीमत नहीं आँकता।

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। (गीता ९-२६)

अन्यत्र कहा है—

"अन्यत् पूर्णादपां कुंभात् अन्यत्पादावनेजनात्
अन्यत् कुशलसंप्रश्नात् न चेच्छति जनार्दनः।"

लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि परमेश्वर अल्प-संतोषी है और इसलिए उसे धोखा दिया जा सकता है, तथा तुलसीपत्र और जल चढ़ानेसे ही उसकी भक्ति पूर्ण हो जाती है।

'परमात्मा साधनों और द्रव्योंकी कीमतके विषयमें उदासीन रहता है और केवल भावका भूखा है', इसका अर्थ इतनाही है कि वह अन्य देवताओंकी तरह द्रव्यार्थी नहीं है, बल्कि तुलसीपत्र पानी जैसी चीजोंसे भी उसकी आराधनाकी जा सकती है।

दूसरी ओर, परमात्माकी भक्ति सर्वस्वार्पण द्वाराही हो सकती है। अर्थात् भक्तका सर्वस्व पत्र-पुष्प ही हो, उसके अतिरिक्त उसके पास कुछ न हो, तो वह उतनेसे ही परमात्माकी भक्ति कर सकता है।

लेकिन यदि कोई व्यक्ति बहुत कुछ अपने पास रखकर ईश्वरको केवल पत्र-पुष्प ही अर्पण करे, तो उसकी भक्ति वास्तविक नहीं मानी जायगी।

भक्तिका अर्थही यह है कि उसमें ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा कुछभी प्रिय न हो। ईश्वरसे बढ़कर प्रीतिकर वस्तु उसके लिए कुछभी नहीं हो सकती। इसीसे सर्वस्वार्पण का तत्व सिद्ध होता है।

'यत्करोषि यदश्नासि'—इत्यादि श्लोकमें यही भाव प्रकट है।

इस पराभक्तिके लिए समूचा जीवनही अर्पण करना होता है। जो भी कर्म करें, तप करें, दान करें—सब ईश्वरार्पण करना होगा। शरीर, वाणी और मनसे जो भी क्रिया करें, उन सबसे एकही फलकी अपेक्षा करनी चाहिए कि उसके परिणाम-स्वरूप हमारा चित्त शुद्ध हो, उसमें परमात्माका ज्ञान स्थिर हो, उसमें हमारी निष्ठा दृढ़ हो।

इसके अतिरिक्त ईश्वरार्पणका अर्थ है दूसरेके लिए जीना। जगत्में जो भी कुछ है—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब परमात्मरूप ही है। अतः उनके हितके लिए जीना, उनके हितके लिए अपना जीवन-व्यवहार चलाना ही ईश्वरार्पित जीवन कहलाता है।

देहधारीको अपने व्यक्तित्वका भानही न रहे, यह पूरी तरह संभव नहीं है। यह सच है कि वह स्वयंभी परमात्मरूप है, लेकिन यदि वह ऐसा अभिमान करे तो उसकी अधोगतिही है। क्योंकि परमात्माके परमभावमें 'अहम्' के भानको स्थान नहीं है और जहाँ 'अहं' पैदा हुआ, वहाँ परमात्माका परम भाव नहीं रहता, उसकी गौण प्रकृतिका ही दर्शन होने लगता है। इससे ईश्वरभक्त अपनी अहंवृत्ति और व्यक्तित्वको स्वयंतो नहीं मिटा सकता। हाँ ज्ञान और भक्तिके द्वारा मिटा सकता है। अर्थात् जिस-जिसमें उसे 'मैं' और 'मेरा' का भान होता है, उस सबको लोक-कल्याणके लिए अर्पण करके वह निरन्तर निःस्व बनता जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीरमें मलको जमा नहीं होने देना चाहता, उसी प्रकार ईश्वरभक्त अपने आपको—उसके पास जो कुछ है, आता है या रहता है, सबको दूसरेके हित में लगा देनेके लिएही प्रयत्नशील रहता है।

यही श्रीकृष्णकी आराधना है, यही जीवन-समर्पण है।

"मेदिनी आनंदपूर्ण स्वरोंमें गा उठी—'जयति कृष्ण, जयति कृष्ण।' युगों बीत गए हैं। पर अब भी मेदिनी गाती जा रही है—' 'जयति कृष्ण, जयति कृष्ण।' यह शाश्वत गीत है—पद है। युगोंसे चल रहा है और युगों तक चलता जायगा—चलता जायगा।"

मेदिनी पुकार उठी—
जयति कृष्ण, जयति कृष्ण

श्रीअखिलेश

वह एक युग था—द्वापरका—द्वापरके अन्तका। पाप, और अधर्मकी कालिमा चारों ओर छाई हुई थी। साँस-साँससे, कंठ-कंठसे—पापकी, वासनाकी दुर्गन्ध निकल रही थी। वातावरणमें—वायुमण्डलमें कदाचारका, अनाचारका गुंजार हो रहा था। धर्म सिसक रहा था। श्रद्धाकी बस्तियाँ उजड़ गई थीं। वेदोंके पृष्ठ, शास्त्रोंके पन्ने उदासीन थे, कोने में पड़े थे। माता, पिता, गुरुजन उदास आँखोंमें अश्रु भरे हुए, दुःखों और उपेक्षाओं की अग्नि-शिखामें जल रहे थे। असत्य, अदया, और द्वेष तथा हिंसा स्वयं पिशाच और दानव-सी चारों ओर अट्टहास कर रही थी। देवताओं, मन्दिरों और गुरुजनोंकी निन्दाके—उपहासका स्वर ऊंचा था। कृतघ्नता, वंचकता पंख पसारके उड़ रही थी। कल्याणमय सूक्तों, साम मंत्रों और श्रीहरिके पवित्र धामोंको बेच-बेच करके, लोग उदर-पोषण कर रहे थे। हिंसकों, जीव घातियों और कुकर्मियोंका प्रभुत्व था—पगपग पर धूम थी। नियमोंकी अवहेलना, आचारों-विचारोंके उपहासने साकार रूप धारण कर लिया था। पूजा, व्रत, उपवास, गो, ब्राह्मण, देवतासे विश्वास उठ गया था। वासना, मदिरा और अनैतिकता बरसाती सरिताकी भाँति उमड़कर वह रही थी।

मेदिनी व्याकुल हो उठी। पाप और अधर्मकी लपटोंने मेदिनीके मन-मानसको मथित कर दिया। वह अधीर होकर रो उठी। उसके नयनोंमें आँसू उमड़ आए। वह असहाया-सी, अधीरा-सी प्राण-प्राणसे पुकार उठी —'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' मेदिनी की वह पुकार, उसकी वह आँसूभरी आराधना! उसीका तो शुभ परिणाम है वासुदेवका जन्म!! मेदिनीकी उस आराधनाको हम धरतीके जीव कभी नहीं भूल सकते, कभी नहीं भूल सकते!!

भगवान् श्रीकृष्ण कुछ बड़े हो चुके थे—यही आठ-दस वर्षके। कोई नहीं जानता

था कि वे त्रिगुणेश्वर हैं। अखिलेश्वर हैं, साँवली-सलोनी मूर्ति तो बालककी हुआ ही करती है, पर किसी-किसीकी विशेष होती है। लोग बालकृष्णकी गणना भी ऐसे ही विशेष बालकोंमें किया करते थे। पर बालकृष्ण तो अपने अखिलेश्वरत्वको—अपनी सम्पूर्ण कलाओं को, अपने एक-एक चरणमें व्यक्त कर रहे थे—उसका चित्र बना रहे थे। एक दिन बाल-कृष्णकी दृष्टि पड़ी—'गोप गोपियाँ इन्द्रकी पूजा कर रहीं हैं।' आश्चर्य है, उस व्रज की धरा पर इन्द्रकी पूजा, जिसके अङ्कमें स्वयं परब्रह्म परमात्माने ही अपनी संपूर्ण कलाओं के साथ जन्म धारण किया है। भला सर्वेश्वरके संमुख इन्द्रकी पूजा कैसे हो सकती है? बालकृष्णने इन्द्रकी पूजा रोक दी। पर पूजा रोकने के साथ ही साथ इन्द्रके कोपकी ज्वालाएँ भी भड़क उठीं। जब देवोंके देव इन्द्रको ही यह पता नहीं था कि व्रज के बाल-कृष्ण कौन हैं, तो फिर साधारण बुद्धिके मनुष्यों की बात क्या?

इन्द्र विक्षुब्ध होकर प्रलयके बादलोंके साथ व्रजकी धरा पर टूट पड़ा। काले-काले भयावने बादलोंसे आकाश आच्छादित हो उठा। ऐसे भयावने बादलोंसे, जो घूर-घूरकर मेदिनीकी ओर देख रहे थे। बूँदोंके शर छूट पड़े। एक साथही खरबों बूँदें, असंख्य बूँदें, धरतीको खोदकर बहादेने वाली बूँदें। कुछ ही क्षणोंमें चारों ओर जल ही जल हो गया। ऐसा लगा, मानो शत-शत समुद्र सीमा तोड़कर व्रजकी धराकी ओर दौड़ पड़े हों। वृष्टिके साथ ही साथ प्रलयंकरी गर्जनाभी होने लगी। बिजली कड़कने लगी। कड़क-कड़ककर गिरने लगी। मेदिनीकी छाती विदीर्ण होने लगी और रह-रहकर विदीर्ण होने लगी। चारों ओर क्रन्दन, चारों ओर आर्तनाद! लहरें उमड़ती आ रही थीं, उमड़-उमड़कर मेदिनीकी शोभाको—उसकी संतानोंको निगलती जा रही थीं—निगलती जा रही थीं। मेदिनी काँप उठी—आर्त स्वर में पुकार उठी—जयति कृष्ण, जयति कृष्ण।

मेदिनीकी वह पुकार, उसकी आर्त आराधना! विराट पुरुष बालकृष्णने अपनी सीमाएँ तोड़ दीं। वे अपने नयनोंकी कोरोंमें कृपा भरे हुए आगे बढ़े। उन्होंने इन्द्रके मद को चूर्ण करने के लिए—सत्यकी स्थापनाके लिए गोवर्द्धनगिरिको अपनी उँगुली पर उठा लिया। डूबते हुए व्रजके नरनारी, जीव, पशु-सभी गोवर्द्धन गिरिके नीचे आश्रय पाकर गद्‌गद हो उठे। इन्द्र गर्ज गर्ज कर थक गया, बरस-बरसकर परिश्रान्त हो गया। आखिर वह भी हाथोंके संपुटमें श्रद्धाके पुष्प लिए हुए भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें विनत हुआ, और त्राण पानेके लिए पुकार उठा—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण!'

उसी दिनसे गोवर्द्धन गिरिकी आराधना भी श्रीकृष्ण पूजाके रूपमें साकार हो उठी। आज भी कोटि-कोटि नरनारी गोवर्द्धनगिरिको श्रीकृष्ण ही समझकर आराधना करते हैं और अपनी श्रद्धा तथा भक्तिके पुष्प अर्पित करते हैं।

मथुरा-नृपति कंसका अत्याचार! व्रजकी धरा ही नहीं, भारतके विस्तृत भू-प्रदेश उसके अत्याचारोंसे सिसकियाँ भर रहे थे। देवकी और वसुदेव अब भी कारागारकी अन्धकार-पूर्ण कोठरीमें जीवन-यापन कर रहे थे। देवकी के सात-सात पुत्रोंके अकाल मृत्युकी कहा-नियाँ आकाश में चीत्कार कर रही थीं। देवकी के आठवें पुत्र, बालकृष्णकी खोज के बहाने

कंसकी तलवारके नीचे सोयी हुई शत-शत नवजात शिशुओंकी आत्माएँ वायुमण्डलमें करुण सिसकियाँ भर रही थीं। यशोदाकी पुत्रीका मार्मिक बलिदान वायुके स्वरोंमें गूँज रहा था। कंसकी वासना और उसकी दानवता बढ़ती जा रही थी। ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, कंसके अत्याचारोंमें पंख लगते ही जा रहे थे। गोपोंकी हरी हरी खेतियाँ उजाड़ देना, उनकी गायों और बछड़ोंको पकड़ कर लेजाना और उनकी बस्तियों में आग लगा देना कंसके सैनिकोंका नित्यका काम था। ऐसा कोई दिन न जाता, जब गोपोंके गाँवोंमें कंसके सैनिक भय, आतंक और अत्याचारके रूप में न विचरते। छोटे-छोटे बच्चोंको उठा ले जाते, स्त्रियोंकी मान-मर्यादा लूट लेते, मक्खनकी मटकियोंको छीन लेते और जिसे चाहते, उसे बन्दी बनाकर कंसकी राजसभामें उपस्थित करते। आखिर, व्रजकी मेदिनी काँप उठी और अपने कोटि-कोटि रंध्रोंसे वह एक साथ ही पुकार उठी—"जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' व्रजकी मेदिनीकी वह पुकार, और आर्त आराधना! बालकृष्णमें उनका परमेश्वरत्व जाग उठा, उनकी रगरग में अनुकम्पाकी भावना भर गई। वे गोप ग्वालों, और गोपियोंके ममता-बन्धनोंको तोड़कर मथुराकी ओर चल पड़े। उनके साथ न सैनिक, न अस्त्र-शस्त्र। थे तो केवल बलराम, उनके ही भाई। दोनों भाई कंसकी राजसभामें पहुँचे। उस कंसकी राजसभामें, जिसके नामसे ही बड़े बड़े शक्ति सत्ताधारी कांप जाते थे। कंसने बालकृष्णको फँसानेके लिए—उन्हें धूलिमें मिलानेके लिये अपनी संपूर्ण आसुरी शक्ति एकत्र कर ली थी। पर बालकृष्णने कच्चे घड़ेके सदृश उसे एक ही झटके में तोड़फोड़ दिया, और तोड़फोड़ कर रख दिया कंसके उस भौतिक शरीरको, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें हाथियोंका सा बल भरा था।

बालकृष्ण उसी दिनसे 'व्रजेश्वर'के नामसे विख्यात हो गए। आज भी कोटि-कोटि नरनारी 'व्रजेश्वर'के रूपमें उनकी आराधना करते हैं। कितने ही भय और आपदा-ग्रस्त लोग उनके इस रूपका स्मरण कर-करके, आनन्दलाभ करते हैं—"बालकृष्ण अत्याचारी कंसके वक्षःस्थल पर आसीन हैं और अपनी मुष्टिकाओंके प्रहार से उसके पापपूर्ण जीवनका अन्त कर रहे हैं।"

बालकृष्णका वह शौर्य भरा हुआ रूप! सचमुच उसके स्मरण मात्रसे भयके बंधन कट जाते हैं। एक बार उस रूपका स्मरण करके कहिये तो, 'जयति कृष्ण, जयति कृष्ण।'

कंसका सर्वांत! मगध राज जरासंध कुपित हो उठा। वह अपनी प्रचण्ड सेना लेकर मथुरा पर टूट पड़ा। उसकी तेईस अक्षौहिणी सेनाने, प्रलय कालके बादलोंकी भाँति उमड़ कर, चारों ओर से मथुराको घेर लिया। मथुराकी मेदिनी काँप उठी और प्राण-प्राण से पुकार उठी—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' मथुराकी मेदिनीकी वह पुकार, उसकी वह अभ्यर्थना! भगवान् श्रीकृष्ण अनुकम्पासे भर गए। परिणामतः जाग उठा यदुवंशियोंमें शौर्य, प्रताप और तेज। यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्णकी छत्रछायामें जरासंधके सैनिकों पर जा टूटे। देखते ही देखते जरासन्धकी तेईस अक्षौहिणी सेना तूलके रेशेकी भाँति उड़ गई। एक नहीं, सत्रह-सत्रह बार जरासन्धने तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण

किया। किन्तु हरबार श्रीकृष्ण भगवान्के शौर्य और पराक्रमके समक्ष उसे नत ही होना पड़ा।

आखिर काल यवन और जरासन्ध, दोनों एक साथ मिलकर प्रलयंकरी आँधीकी तरह मथुरा पर टूट पड़े। मथुराकी मेदिनी पुनः कोटि-कोटि रंध्रोंसे पुकार उठी—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' श्रीकृष्णकी भुजायें फड़क उठीं। मेदिनीकी पुकारने उनके शौर्यको जगा दिया। उन्होंने निश्चय किया, अब वे उस दुरात्माका सर्वान्त ही कर देंगे, जिसके अत्याचारों से मेदिनी कराह रही है। पर अभी नहीं, अभी वे पीछे हटेंगे दूर, बहुत दूर, मथुराको छोड़-कर द्वारिकापुरी चले जायँगे और वे सचमुच संपूर्ण यदुवंशियोंको लेकर द्वारिकापुरी चले गए। उन्होंने समुद्रके मध्यमें अपनी नई राजधानी बसाई—द्वारिकापुरी। उन्होंने अपनी राजधानीका उद्घाटन जरासन्ध और कालयवनकी मृत्यु से किया। द्वारिकापुरीमें उनकी कीर्तिका नाद गूँज उठा—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' वे रणछोड़के नामसे समाहृत किए जाने लगे—आराधित किए जाने लगे। आज भी कोटि-कोटि नर-नारी उनकी रंणछोड़के रूप में आराधना करते हैं और उनके कमल-चरणों पर अपने श्रद्धाके पुष्प समर्पित करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

प्रागज्योतिषपुरका दैत्य नृपति भौमासुर! भौमासुर बड़ा अधर्मी था, बड़ा अन्यायी था। धर्म, सत्य और सदाचारको वह कुचलकर ही चलता था। वह उन्हें दण्ड देता था, जो धर्ममें श्रद्धा रखते थे। वह उन्हें शूलियों पर चढ़ा देता था, जो 'हरि'का नाम लेते थे। साधु, सन्यासी और ईशके भक्त उसके राज्यमें, कारागारमें चक्कियाँ चलाते थे। उसने चुनचुनकर, एक सहस्त्र ऐसी अबलाओंको कारागार में डाल रखा था, जिनके प्राणोंमें वासुदेव के लिए श्रद्धा थी—परमेश्वरके लिये भक्ति थी। वह अपनी आसुरी शक्तिसे अपनेको अजेय समझता—अमर मानता था। आखिर प्रागज्योतिषपुरकी मेदिनी भी पुकार उठी—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' प्रागज्योतिषपुरकी मेदिनीकी वह पुकार और अभ्यर्थना। भगवान् श्रीकृष्ण रीझ उठे, और गरुड़ पर सवार होकर चल पड़े प्रागज्योतिषपुरकी ओर। उन्होंने देखते ही देखते भौमासुरकी मायापूर्ण रचनाओंको ध्वस्त कर दिया। उन्होंने उसके प्रचण्ड सेनापति 'मुर'को मृत्युके अङ्क में सुलाकर 'मुरारि'की अर्चनीय उपाधि प्राप्तकी। उन्होंने देखते ही देखते भौमासुरके दर्पको चूर्ण करके उन समस्त प्राणियोंके बन्धन काट दिये, जो उसके कारागारमें यंत्रणाओंकी आग में जल रहे थे।

आखिर वे समस्त नरनारी, साधु सन्यासी वासुदेवके चरणों में लोट गये, और गद्-गद् कण्ठोंसे बोल उठे—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण'।

मेदिनीका अंचल सुख, सौभाग्य, शान्ति और परम आनन्दकी मुक्ताओं से भर गया। मेदिनीभी आनन्दपूर्ण स्वरोंमें गा उठी—'जयति कृष्ण जयति कृष्ण।' युगों बीत गए हैं। पर अब भी मेदिनी गाती जारही है—जयति कृष्ण, जयति कृष्ण। यह शाश्वत गीत है—पद है। यह युगों से चल रहा है और युगों तक चलता जायगा—चलता जायगा।

"भजनसे भक्ति सरल हो जाती है। ध्यान और भजनके बिना इच्छा शक्ति दृढ़ नहीं होती और सुख हाथ नहीं आता। उपासनासे मनका मैल कटता है, निष्काम कर्म करनेका बल बढ़ता है, चित्त प्रसन्न होता है, ज्ञान जागा रहता है और परमेश्वरका साथ नहीं छूटता। मनको प्रेमसे भिगो देनेसे उसकी चंचलता मिट जाती है।"

चंचल मन पंछी

श्रीचन्द्रकिशोर 'सीकर'

महाविद्यालयके झंझटोंमें तो मनका एकाग्र होना बड़ा कठिन लगता ही था, परन्तु अब तो ६ वर्ष होगये अवकाश प्राप्त किये हुए। पूजा करनेमें समय लगता ही रहता है, लेकिन उन क्षणोंमें खास तौरसे चित्त न मालूम कहाँ-कहाँ दौड़ता रहता है। यह मेरी बड़ी कठिनाई है, कैसे दूर हो?

क्लेशमय अथवा आर्द्रतापूर्ण जीवनरूपी भूमिमें जब जिज्ञासुरूपी अंकुर जमता है, श्रद्धारूपी जल पाकर पुरुषार्थ रूपी तना बनता है और सूर्य-किरण रूपी भगवद् दयासे समय पाकर वृक्ष रूप धारण करता है, तब शान्ति और आनन्द रूपी सुन्दर व मीठे फल देता है।

श्रद्धा उत्पन्न होती है त्यागी श्रेष्ठजनों महात्माओंके वचनोंको श्रवण, उनका अध्ययन एवं उन पर मनन करनेसे, शास्त्रके पठन-पाठनसे, और नियमपूर्वक सत्संग करने से। श्रद्धा इस बातमें कि मनकी एकाग्रतामें—शान्ति और आनन्दरूपी अक्षय सुखकी अनुभूति निस्सन्देह होगी।

ऐसे विश्वासके दृढ़ होजाने पर पुरुषार्थ जागृत होता है। दैविक, दैहिक और भौतिक तीनों प्रकारके दुःखोंकी नितान्त निवृत्ति कर देनेको पुरुषार्थ कहते हैं। इसमें सत्य, दैवी परिश्रम और कुशलताका निवास रहता है। पुरुषार्थ मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ साथी है। जो जितना परमेश्वरकी ओर चलता है, उसमें उतना ही पुरुषार्थ रहता है।

"पुरुषोत्तमका ज्ञान पुरुषार्थका प्रेरक है, यह कर्मका अलख जगाता है। जो उससे बल लेकर रचनात्मक कर्म करता है, वह परमानन्दमें निमग्न रहता है। पवित्र हो या अपवित्र कैसा भी हो, और किसी भी अवस्थामें हो, जो भगवान्‌का निरन्तर स्मरण करता है, वह भीतर बाहरसे पवित्र हो जाता है।"

"परमेश्वरके ज्ञानरूपी सिद्धिकी प्राप्ति भक्ति द्वारा जितनी होती है, उतनी दूसरे किसी साधनसे नहीं हो सकती। भक्ति भक्तके हृदयको शुद्ध करती है। उस ज्ञानसे बुद्धि सूक्ष्म हो जाती। सात्विक वृत्तिके विकाससे पुरुषार्थमें बल आ जाता है और धीरे-धीरे व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।"

"प्रातःकालसे सायंकाल तक और सायंकालसे प्रातःकाल तक प्रत्येक कर्म करते हुए परमेश्वरका स्मरण करनेसे उसीका रूप होकर कर्म करने द्वारा भक्तिकी साधना होती है।"

"ज्ञान वही सार्थक है, जो उन्नतिके मार्गमें चलनेके लिये सहायक हो। स्वाध्याय, श्रवण, मनन, नित्य-नूतन-प्रगतिकी उच्च अभिलाषा और उसके लिये हार्दिक प्रयत्न, तत्वको जाननेकी जिज्ञासा, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, सेवा और सद्भावसे युक्त होकर तत्परतापूर्वक स्वधर्माचरण—ये ज्ञान स्थिति है।"

"परम तेजस्वी, प्रकाश-पुंज परमात्माका रहस्य खुल जाने पर मनुष्यकी पहुँचसे आनन्द, आशा, उत्साह और आश्चर्यका कोई पदार्थ नहीं बचता अर्थात् ये सब उसको सहज प्राप्त हो जाते हैं। वह उससे जीवनका शिव और सुन्दर मार्ग जान लेता है। जो उसकी अनुमतिसे उसके मार्ग पर चलता है, उसके लिये वह अपनी अनन्त कृपाका कोष खोल देता है और उसे सब प्रकार सहायता, शक्ति और उत्साह देता है। दैवी मार्ग पर चलने वाले कर्त्तव्य-परायण नर-नारियोंका सब प्रकार पोषण करता है।"

"ऐसी श्रद्धासे युक्त पुरुष कष्ट सहन करता हुआ दूषित मन व इन्द्रियोंका दमन करके पूजामें बैठता है। ध्यानमें ध्येयको प्राप्त कर लेनेकी महा शक्ति है। ध्यानसे मनकी शक्ति बढ़ती है, बुद्धि जागती है, हृदय शुद्ध होता है और मनुष्यके अन्तःकरणमें परमेश्वर उतर जाता है। निश्चयात्मक बुद्धि बनती है और शिव-संकल्पोंका स्रोत उमड़ता है। ध्यानके द्वारा जब भक्तिकी साधना होती है तो कर्मोंमें सफलता मिलती है और अन्तरमें परमात्मा मिलता है।"

मनकी चंचलता ध्यानमें बाधक रहती है। यह कठिनाई मनुष्यमात्रकी है। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं कि यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिये उसका वशमें करना वायुकी भाँति अति दुष्कर समझता हूँ। इस पर भगवान्का आश्वासन हुआ कि हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होने वाला है, परन्तु हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करने और वैराग्यसे वशमें हो जाता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये।

श्रद्धाका महात्म्य यहाँ काम देता है। भगवान्के इस वाक्यमें अटल श्रद्धा होनी चाहिए।

"सत्यको सब प्रकारसे ठीक-ठीक समझना, जानना और जानकर भली-भाँति दृढ़तासे धारण करना श्रद्धाका अभिप्राय है। श्रद्धाके बिना कोई कार्य सफल नहीं होता। श्रद्धा

होजाने पर मनुष्य पूरी शक्ति और सामर्थ्यपूर्वक कर्ममें लग जाता है। श्रद्धासे विश्वास होता है, विश्वाससे प्रेम, भक्ति और लगन। श्रद्धा उस समय दृढ़ होती है, जब सब संशय दूर होजाते हैं और उसमें होती है, जो हाथ पकड़कर रास्ता बताता है।"

भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वासके द्वारा जप और भगवत्-प्राप्ति विषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन इत्यादिक चेष्टाएँ भगवत्-प्राप्तिके लिये बारम्बार करनेका नाम अभ्यास है।

विषयोंमें इन्द्रिय-सुखकी प्रतीति द्वारा राग उत्पन्न होता है। अनुराग मनका स्वभाव है। अनुरागी मन इन्द्रियोंके वशमें होजानेसे मनुष्यकी बुद्धिको हरे रहता है। यदि यह विवेक-बुद्धि द्वारा उसका उपयोग ऐसे मार्गमें करे, जो उसको उन्नतिकी ओर ले जाये तो वही राग कल्याणकारी बन जाता है। पतनकी ओर ले जाने वाले रागका कल्याणकारीमें परिवर्तन वैराग्य कहलाता है; दूसरे शब्दोंमें जिस प्रेम द्वारा जीव अवनतिमें पड़ा रहे, उसको राग कहते हैं और जिसके द्वारा उन्नतिकी ओर बढ़े, उसको भक्ति।

रागका भक्तिमें परिवर्तन वैराग्य द्वारा ही होता है अर्थात् इन्द्रिय विषय भोग द्वारा भोगोंसे उत्पन्न दुःखोंसे सन्तप्त हृदय, उनसे सम्बन्ध विच्छेद करनेकी जिज्ञासासे, परमेश्वरकी शरणमें जब जाता है, तभी सच्चे वैराग्यका उदय होना आरम्भ होता है। केवल बुद्धि द्वारा अथवा निग्रह (हठ) से स्थायी वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती। ऊपरकी सीढ़ीमें पदके जम जाने पर नीचेकी आपसे आप सरलतासे छूट जाती है, कुछ कठिनता नहीं व्यापती। परमेश्वरके शरणागत होनेसे बुद्धि निर्मल होती है, मन बुद्धिके आधीन रहता है और इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार जमाये हुए उनको विचलित होनेसे रोकनेमें सदा लगा रहता है।

मनुष्य तनको 'विवेक' परमेश्वरकी विशेष देन है। हृदयके विमल-विलोचन खुल जानेका नाम 'विवेक' है। विकारोंके छूट जानेका नाम 'वैराग्य' है, यही सच्चा है। अपने विकारी स्वभावको अभ्यास द्वारा उन्नतिशील बनाना मनुष्यका परम धर्म है। यही मार्ग सुख और शान्तिका है, दूसरा नहीं।

"जब निर्मल और पराधीन प्राणी बल और शान्तिके लिये छटपटाता है और अपनी अल्पज्ञताको समझकर परमात्माकी सर्वज्ञताकी ओर विकारोंको छोड़कर बढ़ता है, तब परमेश्वरकी उपासनाका आरम्भ होता है और तभी परमात्माका रूप बनता है। पूजा करते-करते चाहे जीवन पूरा करदे मनुष्य, परन्तु प्रेम-रसके बिना उसको प्यासा ही रह जाना होगा।"

"प्राणीमात्रकी सेवा परमेश्वरकी सच्ची पूजा है। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, राग-द्वेषादि विकार दूर होते हैं। सद्भावसे स्थिति दिन-दिन बढ़ती है।"

"भजनसे भक्ति सरल होजाती है। ध्यान और भजनके बिना इच्छा-शक्ति दृढ़ नहीं होती और सुख हाथ नहीं आता। उपासनासे मलका मैल कटता है, निष्काम कर्म करनेका

वल बढ़ता है, चित्त प्रसन्न होता है, ज्ञान जागा रहता है और परमेश्वरका साथ नहीं छूटता। मनको प्रेमसे भिगो देनेसे उसकी चंचलता मिट जाती है।"

"चित्तको सब ओरसे हटाकर बारम्बार एक ध्येय पर लगानेका नाम अभ्यास है। जिस अभ्यासमें श्रद्धा, मान, नियम और संयम नहीं होता, उससे दृढ़ता नहीं आती। कठिन अभ्यासमें मन न लगे, तो सत्संग, भजन, कीर्तन, पूजन, वन्दन, नमस्कार आदि भगवत्-कर्मोंको श्रद्धा और प्रेमसे मनुष्य करे। उद्योग करने वालेसे परमेश्वर सदा प्रसन्न रहता है। 'हे प्रभु! हमारा मन व्यर्थकी वातें बनानेकी वुरी आदतके आधीन न होवे, सदा ज्ञान-चर्चामें निमग्न रहे।' ऐसी भावना होनी चाहिए। ध्यानकी एकाग्रता मनुष्यमें महाशक्ति जगा देती है।"

गीता ज्ञानसे संग्रहीत उपदेशानुसार ऊपर लिखी हुई सारी विवेचनाकी पृष्ठ-भूमिमें मनुष्यको आत्म निरीक्षण करनेसे निश्चयेव विदित होगा कि मनकी चंचलताके कारण राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मत्सर, अहंकार, मद, मोह, अभिमान आदि अनेक विकार होते हैं। जब तक मनका इन दूषित वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त न हो जाये, चित्तका स्थिर होना कैसे सम्भव हो? वड़ा कठिन काम है, परन्तु निराशाका कोई कारण नहीं। निर्बल जीवके हाथमें और है ही क्या, सिवाय इसके कि वह परमेश्वरकी शरणमें होकर सदा प्रयत्नशील बना रहे। 'अनेक जन्मोंके निरन्तर अभ्यास द्वारा परमगतिकी प्राप्ति होती है, इस विचारसे धैर्य सहारा देता रहेगा। ज्यों-ज्यों मनुष्यकी अभ्यासमें गति वढ़ेगी, आन्तरिक सन्तोषकी अनुभूति उसकी श्रद्धामें वल पहुँचाती रहेगी और वह इस श्रद्धा तथा पुरुषार्थ और धैर्यकी त्रिवेणीमें स्नान करते हुए अपने मानव-जीवनको सार्थक वनाते रहनेकी आन्तरिक प्रेरणा हृदय-स्थित परम कृपालु देव द्वारा पाता रहेगा।

अत: प्रभु शरणमें जाओ और प्रार्थना करते रहो—

प्रभु मोरे अवगुन दूर करो।
जनम जनम के अघ—
पापन सों, मैं सिर बोर मरो॥

मोसे अघी कों ठौर न दूसर,
चरनन आन परो।

प्रभु पावक है नाम तिहारो,
मोकों शुद्ध करो॥

लोहा काठ के संग तरत ज्यों,
मोकों पार करो।

प्रभु "विदेह" के सकल,
एषणा ताप विकार हरो॥

"अक्षरोंका परिचय कराने के लिए बालकोंके सामने, जैसे अक्षरों के आकार वाले स्थूल एवं गोल-गोल कंकड़ रक्खे जाते है, (जिससे उनको अक्षरोंका परिज्ञान हो जाता है) उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध परिपूर्ण परमेश्वरके ज्ञान के लिए लकड़ी, मिट्टी, शिला (पत्थर), ताँबा, चाँदी एवं सोने आदिकी मूर्ति का अर्चन किया जाता है।"

आराधना का स्वरूप

श्रीमधुसूदन शास्त्री

आराधनाके स्वरूपका प्रतिपादन करने के पहिले "आराधना पदका अर्थ क्या है, आराधना किसे कहते हैं या कहना चाहिए–" इसकी गवेषणा करना आवश्यक है। पदके अर्थको जाननेके लिये साधारणतः दो ही आधार प्रथम उपस्थित होते हैं। एक कोष, दूसरा व्यवहार अर्थात् प्रयोग—प्रवाह। कोषों में मेदिनी एवं अमर कोषमें क्रमशः मिलता है 'आराधनं च पचने प्राप्तौ सन्तोषणेऽपि च, 'आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च।'

(१) जैसे पकनेके अर्थमें राध्यति ओदनः सिध्यतीत्यर्थः। ओदन पकता है अर्थात् सिद्ध होता है। यह प्रयोग सिद्धान्त कौमुदीमें, राध्ये कर्मकाद्वद्धावेवं के प्रसंगमें, उल्लिखित है।

(२) साधन अर्थ में 'मन्त्राराधन तत्परेण मनसा नीता निशाः सर्वतः।' मन्त्रके साधनमें तत्पर मनसे सभी रातोंको बिताया।

(३) प्राप्ति अवाप्तिके अर्थ में 'आराधनायास्य सखी-समेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम्।' इस महेश्वा की प्राप्तिके लिये प्रयत तनूजाको आद्रिनाथने आदेश दिया।

(४) सेवा-सुश्रूषाके अर्थमें आराधन शब्दका प्रयोग 'मत्प्रसूतिमनाराध्य' मेरी सन्ततिकी बिना सेवा किये। 'आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघाहि सा।' धर्मपत्नी सहित इसकी सेवा-सुश्रूषा करो। सेवासे प्रसन्न हुई यह कामधेनु ही है। 'सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्।' सम्राट् दिलीप सुरभिकी सेवा सुश्रूषा में तत्पर हो गये।

(५) तोषण प्रसन्न करनेके अर्थमें 'आराधनाय लोकस्य मुंचतोनास्ति मे व्यथा।' जनताको प्रसन्न करनेके लिये जानकीको छोड़ देनेमें मुझे कोई भी मानसी पीड़ा नहीं है।

यह तो हुआ कोषों के अनुसार आराधन पदके अर्थोंका निर्देशन। अब लोक व्यवहार एवं शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार आराधना पदके अर्थका निरूपण करते हैं।

अमुक व्यक्ति गणेशकी आराधनामें लगा रहता है। शक्तिकी आराधना बंगवासियों

की, कृष्णकी आराधना व्रजवासियों एवं गोपांगनाओंकी प्रशंसनीय है। काशीमें व्यक्ति शिवकी आराधनामें निरत रहते हैं इत्यादि। लोकमें पूजनके अर्थ में इस पदका प्रयोग है।

शास्त्रमें पूजाके अर्थ में आराधन शब्द का प्रयोग

वर्णाश्रमवता राजन् पुरुषेण परः पुमान्। हरिराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥ वर्णधर्म एवं आश्रमधर्मके अनुकूल आचरण करने वाला पुरुष उस परम पुरुषका भक्तिसे आराधन-पूजन करता है, क्योंकि भक्तिपुरस्सर आराधनके अतिरिक्त और कोई उपाय उसकी प्रसन्नताका नहीं हैं। फिर आगे लिखते हैं—'शृणु तस्याः सुराध्यक्ष! आराधन-विधं परम्। येनसातोषिनापूर्तं शंकराद्यैः फलेप्सुभिः।' हे सुराध्यक्ष इन्द्र, उस शक्तिकी उत्कृष्ट आराधन विधि को सुनो, जिस विधिके द्वारा फल चाहने वाले शंकर विष्णु आदिने उसको प्रसन्न किया।

इस तरह आराधन पदका अर्थ भक्तिपुरस्सर पूजन निश्चित हुआ। अब क्रमशः इसका स्वरूप बतलाते हैं।

भक्ति

भक्ति पदका अर्थ है विभाग। वेद में ९६००० भाग कर्मका है और चार हजार भाग ज्ञानका है। जहाँ इन दोनों भागोंका समन्वय हो, वह भक्ति है। इसीलिये शास्त्रोंमें प्रतीकोपासना एवं अहंग्रहोपासना—इन दोनों प्रकारोंसे भक्ति का निरूपण किया है।

कर्म भागको प्रधान मानकर प्रतीककी उपासना होती है। इसीका नाम मूर्तिपूजा है। यहाँ मूर्तिमें भगवानकी उपासना—यह सप्तमी समास है। श्रद्धाके अनुसार ईश्वरके भिन्न-भिन्न विग्रहकी पूजा होती है। यही साकारोपासना है। इसमें दृष्टान्त देते हैं—

> अक्षरावगमलब्धये यथा, स्थूल वर्तुल दृषत्परिग्रहः,
> शुद्ध बुद्ध परिलब्धये तथा, दारु मृन्मय शिलामयार्च्चनम्।

अक्षरोंका परिचय करानेके लिये बालकों के सामने, जैसे अक्षरोंके आकार वाले स्थूल एवं गोल-गोल कंकड़ रक्खे जाते हैं, (जिससे उनको अक्षरोंका परिज्ञान हो जाता है) उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध परिपूर्ण परमेश्वरके ज्ञानके लिये लकड़ी, मिट्टी, शिला (पत्थर), ताँबा, चाँदी एवं सोने आदिकी मूर्तिका अर्चन किया जाता है।

इस पक्षमें भक्तिका लक्षण है प्रमाण जन्मा अतस्मिंसाद्बुद्धिः प्रतीकोपासना। अगम एवं निगम रूप प्रमाणोंके आधार पर असत्में, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर आदि जो ईश्वर रूप नहीं है, उसको (तद्बुद्धि) ईश्वर समझना। यही प्रतीकोपासना है।

दूसरे पक्ष में भक्तिका लक्षण है, अहं ब्रह्माऽस्मि, सोऽहमस्मि इत्याद्याकाराकारि-तचित्तवृत्यावृत्तिःभूता श्रवणमननाभ्यास परिपक्वनिदिध्यासनरूपा उपासना। मैं ब्रह्म हूँ, मैं वह हूँ इत्यादि विषयके स्वरूपको ग्रहण करने वाली चित्तवृतिकी आवृति। जो श्रवण, एवं मननके अभ्यास से परिपक्व निदिध्यासनस्वरूपा है, वह अहंग्रहोपासना है।

दोनों पक्षों में अनुगत होने वाली भक्तिका लक्षण है, सा परानुरक्तिरीश्वरे। ईश्वर में परा अर्थात् निरतिशय अनुरक्तिका नाम भक्ति है। यह भक्ति आठ प्रकार की है—

> देवतायां च मंत्रेच तथा मंत्रप्रदे गुरौ।
> भक्तिरष्टविधो यस्य तस्य कृष्णः प्रसीदति।

देवतामें, मंत्रमें तथा मंत्र देनेवाले गुरुमें, जिसकी आठ प्रकारकी भक्ति होती है, उसपर श्रीकृष्ण प्रसन्न होते हैं। श्रवण-कीर्तन आदि नव प्रकारकी भक्ति है। इसके अतिरिक्त १६ प्रकारकी भक्ति और होती है।

आद्यन्तु वैष्णवं प्रोक्तं शंख चक्राङ्कनं हरेः।
धारणं चोर्ध्वपुण्ड्राणां तन्मंत्राणां परिग्रहः।
अर्च्चनं च जपो ध्यानं तन्नाम स्मरण तथा।
कीर्तनं श्रवणं चैव वन्दनं पाद सेवनम्।
तत्पादोदक सेवा च तन्निवेदित भोजनम्।
तदीयानां च संसेवा द्वादशी व्रत निष्ठता।
तुलसी रोपणं विष्णोर्देवदेवस्य शार्ंगिणः।
भक्तिः षोडशधा प्रोक्ताभवबन्ध विमुक्तये।

इस प्रकार भवबन्धनसे मुक्ति पानेके लिये देवों के देव भगवान् विष्णुमें सोलह प्रकार की भक्ति है।

आराधना का स्वरूप

इस प्रकार बतलाई हुई भक्तिसे भगवान् कृष्णकी आराधनाका स्वरूप बतलाते हैं। भगवान्‌की आराधना-अर्चना संक्षेप एवं विस्तार दोनों प्रकारसे होती है। जैसे--

गन्धादयो नैवेद्यान्ताः पूजाः पंचोपचारिकाः

लां पृथिव्यात्मकं गन्ध, हं आकाशात्मक पुष्प, यं वायवात्मक धूप, रं अग्न्यात्मक दीप और वं अमृतात्मक नैवेद्य। इस प्रकार गन्धादि नैवेद्य पर्यन्त पाँच उपचारोंका भगवान्‌को अर्पण करनेका नाम पंचोपचार पूजा है।

पाद्यमर्घ्यं तथास्नानं मधुपर्काचमनं तथा
गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात्।

पाद्य, अर्घ्यं, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य--इन दशोंको क्रमशः भगवान्‌को अर्पण करनेका नाम दशोपचार पूजा है।

पाद्यमर्घ्यं तथाचामं स्नानं वसन-भूषणे
गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्याचमनं ततः।
ताम्बूलं दक्षिणा स्तोत्रं तर्पणं च नमस्क्रिया
प्रपूजयेत्प्रपूजायामुपचारोत्र षोडश।

१—पाद्य, २—अर्घ्य, ३—आचमन, ४—स्नान, ५—वस्त्र-भूषण, ६—गन्ध, ७—पुष्प, ८—धूप, ९—दीप, १०—नैवेद्य, ११—आचमन, १२—ताम्बूल, १३—दक्षिणा, १४—स्तोत्र, १५—तर्पण, १६—नमस्कार। यह षोडश उपचार हैं।

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्
स्नानं वस्त्रोपवीतंच भूषणानि च सर्वशः।
गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपमन्नंच दर्पणम्
माल्यानुलेपनंचैव नमस्कार विसर्जने
अष्टादशोपचारेण मंत्री पूजां समाचरेत्।

१—आसन, २—स्वागत, ३—पाद्य, ४—अर्घ्य, ५—आचमनीयक, ६—स्नान, ७—वस्त्र, ८—यज्ञोपवीत, ९—सब अङ्गोंमें भूषण, १०—गन्ध, ११—पुष्प, १२—धूप, १३—दीप, १४—नैवेद्य, १५—दर्पण, १६—माल्यानुलेपन—१७—नमस्कार और १८—विसर्जन। इन अष्टादश उपचारोंसे मंत्री पूजा करे।

दन्तानां धावनार्थं हि काष्ठं वा चूर्णमर्पयेत्,
आसनाभ्यंजनं तद्वदुद्वर्तन निरूक्षणे,
सम्मार्जनं सर्पिरादिस्नपनावाहने तथा,
पाद्यमर्घ्याचमनीयं च स्नानीय मधुपर्कको,
पुनराचमनीयंच वस्त्र यज्ञोपवीतके,
अलंकारो गन्धपुष्पधूपदीपास्तथैव च,
नैवेद्यं फल ताम्बूलं पुष्पमाला तथैवच
अनुलेपनं च शैय्या च चामर-व्यजनं तथा
आदर्श दर्शनं चैव नमस्करोऽय नर्तनम्।
गीत वाद्यं च मधुरं स्तुति होम प्रदक्षिणम्
फलाप्तौ दक्षिणादानं ततो देव विसर्जनम्।
उपचारा इमे ज्ञेया षट्त्रिंशत् सुर पूजने।

१—दाँतून (या पाउडर), २—आसन, ३—आँखोंमें सुरमा, ४—उबटन, ५—निरूक्षण, ६—सम्मार्जन, उबटन, ७—घी या तैलकी मालिश, ८—आवाहन, ९—पाद्य, १०—अर्घ्य, ११—आचमनीय, १२—स्नान, १३—मधुपर्क, १४—पुनः आचमन, १५—वस्त्र, १६—यज्ञोपवीत, १७—अलंकार, १८—गन्ध, १९—पुष्प, २०—धूप, २१—दीप, २२—नैवेद्य, २३—ताम्बूल, २४—पुष्पमाला, २५—अनुलेपन, २६—चामर डुलाना, २७—दर्पण दिखाना, २८—नमस्कार, २९—नृत्य, ३०—वाद्य, ३१—गान, ३२—स्तुति, ३३—होम, ३४—प्रदक्षिणा, ३५—सांगता-सिद्धि के लिए दक्षिणा समर्पण, ३६—देवविसर्जन। यह छत्तीस उपचार देवताओंकी पूजाके लिये हैं।

इस तरह श्रद्धानुसार पंचोपचार दशोपचार, या षोडशोपचार या अष्टोदशोपचार या षटत्रिंशदुपचारोंसे इष्ट देवताकी पूजा करनी चाहिये। किन्तु शक्तिकी पूजाके लिये ६४ उपचार हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—आसनारोपण (आसन पर बैठना), २—सुगन्धित तेलकी मालिश, ३—मज्जन-शाला स्नान गृहमें प्रवेश, ४—स्नानार्थ उपयुक्त मणिपीठपर उपवेशन, ५—दिव्य स्नान, ६—उद्वर्तन, ७—उष्णोदक स्नान, ८—सुवर्ण कलशमें रक्खे हुए तीर्थ जलसे अभिषेक, ९—धौत वस्त्र परिमार्जन, १०—अरुणदुकूल परिधान, ११—अरुण दुकुलोत्तरीय, १२—अनुलेपन मण्डप प्रवेशन, १३—अनुलेपनार्थ मणिपीठोपवेशन, १४—चन्दन, अगर, तगर, कुंकम, कपूंर, कस्तूरी, गोरोचन से विनिर्मित दिव्य गन्धका सर्वांगमें अनुलेपन, १५—केशोंको कालागुरु की धूपसे सुवासित करके मल्लिका, मालती चम्पा, अशोक, शतपत्र (कमल) पूग (सुपारी), कुहरी, पुन्नाग, कल्हार (रक्त कमल) जूई इत्यादि सभी ऋतुओंके पुष्पोंकी माला को धारण कराना, १६—भूषण मण्डप प्रवेशन, १७—भूषण पहनानेके लिये मणिपीठोप-

वेशन, १८—नवीन-नवीन मणियोंका मुकुट, १९—चन्द्रशकल, २०—सीमन्त सिन्दूर, २१—तिलक बिन्दु, २२—कालांजन, २३—कर्णपाली युग, २४—नासाभरण (वेशर), २५—अधर यावक (लिपिस्टिक), २६—केश गूंथना, २७—सोनेका सुन्दर पट्टा, २८—महापदक, २९—मुक्तमाला, ३०—एकलर, ३१—देवच्छन्दक, ३२—केयूरयुगल, ३३—कंकण, ३४—अंगूठी, ३५—सोने की कर्धनी, ३६—कटिसूत्र, ३७—शोभाख्य आभरण, ३८—पादकटक, ३९—रत्ननूपुर, ४०—पादांगुलीयक, ४१—एक हाथमें पाश, ४२—दूसरे हाथमें अंकुश, ४३—तीसरे हाथ में पुण्ड्रक्षु चाप, ४४—चतुर्थ हाथमें पुष्पवाण, ४५—सुन्दर माणिक्यकी पादुकाएँ, ४६—अपने समान वेश, वस्त्र एवं आभरण धारण करने वाली देवांगनाओंके हाथ सिंहासन पर आरोहण, ४७—कामेश्वर पर्यंकोपवेशन, ४८—अमृताशन चषक, ४९—आचमनीय, ५०—कर्पूर बटिका, ५१—आनन्दको उल्लसित करने वाले विलासके साथ हास, ५२—अरातिक, ५३—श्वेतच्छत्र, ५४—चामर युगल, ५५—दर्पण, ५६—व्यंजन, ५७—गन्ध, ५८—पुष्प, ५९—धूप, ६०—दीप, ६१—नैवेद्य, ६२—आचमनीय, ६३—ताम्बूल, ६४—वन्दन ।

देवपूजा विधान

इन उपर्युक्त उपचारोंमें से श्रद्धानुसार किसी उपचारका आश्रयण करना अत्यावश्यक है । (देवो भूत्वा देवं यजेत्) पहले स्वयं देव बन जाय, तब देवताका पूजन करना चाहिए, क्योंकि (नादेवो देवमर्च्चयेत) देव हुये विना देवताका पूजन नहीं करना चाहिये । अतः प्रथम स्नान करना चाहिये । यदि स्नान नहीं कर सकता है, तो आर्द्र वस्त्रसे शरीर पोंछन करना चाहिए । पैर धोकर पवित्र हुआ मानव द्विवासा होकर कुशको हाथमें ले । दिनमें पूर्वाभिमुख, रात्रिमें उदमुख होकर वीरासन से सुखद आसन पर बैठे (स्थिर सुखमासनम्) । स्थिर हो और सुखकर हो, यही आसनका लक्षण है । आचमन करके पवित्र हो । तब मौनी ध्यानपरायण होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग एवं भय रहित तथा सुमना होकर पूजा आरम्भ करे ।

अपने दाँये तरफ गन्धादि उपकरण रक्खे । बाँये तरफ पाद्यादि सम्भार और सामने जलपूर्ण कलश, ताम्रपात्र, रजतपात्र इत्यादि रक्खे । फिर—

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः
सर्वेषामविरोधेन पूजाकर्म करोम्यहम् ।

बोलकर मध्यमा एवं अंगूठेको मिलाकर 'अस्त्राय फट्' ऐसा कहकर दशों दिशाओंका बन्धन करे । फिर—

आरावष्यादिन्यासः करशुद्धिसातः परम ।
अंगुली व्यापकन्यासौ हृदयादिन्यास एव च ।
तल त्रयंच दिग्वन्धः प्राणायाम सातः परम्
ध्यानं पूजा जपश्चैव सर्वतंत्रेष्वयं विधिः ॥

पहले ऋष्यादिन्यास, करन्यास, हृदयादिन्यास करे । तब तीनबार ताली बजावे । फिर दिग्बन्धन करके प्राणायाम, ध्यान, पूजा एवं जप करके पूजा आरम्भ करे । यही सब तन्त्रों में विधान है ।

"शेषशायी भगवान् विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न विश्व-स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माने प्रथम चारों वेदोंका गान किया। इस वेद-गानकी विश्व-व्यापिनी ध्वनिसे अपने डमरूके घोषको मिलाकर कैलाशपति भोले बाबा शंकरने सामवेदके आधार पर नाद शास्त्रका प्रणयन किया, जो गांधर्व-वेद वा गांधर्व-गानके नामसे जगत्में विख्यात हुआ।"

संगीत और भक्ति आराधना

श्री क० गोकुलानंद तैलंग बी. ए. साहित्य-रत्न

आत्म-समर्पणका चरम-लक्ष्य रखकर अपनी समग्र जीवनी-शक्तियोंको, हृदयकी वृत्तियोंको, अपने जीवनाराध्यके पुनीत चरणोंमें अभिनियोजित करना ही मानवकी भावनाओंका साफल्य है। भावना-जगत्के भावुक प्राणियोंकी इस एकान्त आत्म-निवेदनकी रसात्मक अनुभूतिपूर्ण गतिविधिको "भक्ति वा आराधना" के नामसे पुकारा जाता है। प्रेमकी तरह मीठी मादक भावनाओंके उद्भवसे प्रेरित होकर दो हृदयोंके एकीकरणको भी भक्ति वा आराधना कह सकते हैं। अन्तर इतना ही है कि प्रेममें एक उन्माद होता है, अस्थिरता होती है, हृदयमें अस्तव्यस्तता होती है, किन्तु भक्ति वा आराधनामें स्थिरता और गम्भीरता। वस्तुतः प्रेम, भक्ति, और आराधनाका प्रारम्भिक सूत्रपात है, आधार-शिला है। अनवरत-साधनाके अनन्तर, प्रेम ही एक-एक सोपान पर बढ़ता हुआ, परिपक्व अवस्थाको प्राप्त कर भक्ति तथा आराधनाका रूप धारणकर लेता है। प्रेममें अधिकांशतः प्रेमी और प्रेम-पात्रके बीच सम्भावना होती है, किन्तु भक्ति-आराधनामें एकरूपता, एकरसता होते हुए भी भक्त एवं आराधकमें भगवान्के प्रति एक श्रद्धेय, पूजनीय भावना होती है। यही कारण है कि भक्ति व आराधनामें गम्भीरता और तन्मयता होती है।

संगीत भक्तकी इस तन्मयताका सुन्दर साधन है। संगीतमें एक सुसंयत श्रृङ्खलाबद्ध लय होती है, स्वरोंमें एक गति होती है और अबाधित रस-प्रवाह होने पर भी एक ताल विरामकी प्रक्रिया होती है। इससे हृदयकी तल्लीनताके परिवर्द्धनमें विशेष सहायता मिलती है। साधना-कालमें भक्तके हृदय-तन्त्रीके तारोंसे जो कोमल, मधुर भावनाओंकी झंकार निकलती है, वह यदि आस-पासके संघर्ष-कोलाहल-जन्य वातावरण द्वारा बीचमें ही विश्रृंखल हो जाय, तो साधककी एकरसता तादात्म्य, अक्षुण्ण नहीं रहता। एक बार ध्येय धारणा टूट जाने के बाद पुनः नियोजित करनेमें समय लगता है और कठिनाई होती है। इस विक्षेपके हो जानेसे उसकी चित्त वृत्ति अस्थिर भी होजाती है। किन्तु संगीतके समाश्रयसे ऐसा नहीं होता, हम संगीतकी सुनिश्चित सुसम्बद्ध स्वर-लहरियोंमें अपने हृदयका गान एकीभूत कर देते हैं।

इस प्रकार विक्षेपोंसे बचकर अपने प्रणयाराध्यसे एकीभूत हो सकते हैं। हम अपने-आपको उस संगीतकी मृदु धारामें अविरल रूपसे प्रवाहित कर भूल जाते हैं। हमारे मानस-पट पर एकमात्र चित्रित रहती है—अपने प्रेमाराध्यकी मंजुल, मधुर मूर्ति।

यही कारण है कि संगीतको सभीने आराधनाका उपादान माना है। आर्य-संस्कृतिमें ही नहीं, विश्वकी विभिन्न जातियोंके विभिन्न धर्मोंमें संगीतको उपासना, आराधनाका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। गिरजा-घरोंमें उपासनाके समय जो घण्टा-नाद एक विशाल जन-समूहको एकत्रित कर लेता है और जिस एक स्वरसे उपासकगण अपने प्रभुकी प्रार्थना करते हैं, उसमें यह संगीत ही तो है। उच्च स्वरसे होने वाली मस्जिदोंकी अजानोंमें भी यही संगीत काम कर रहा है, और भी सभी जातियोंमें, धर्मोंमें अपने आराध्यको पुकारनेके लिये, अपने अमर कल्याणके लिये प्रार्थना करते समय विभिन्न कार्यों, गायनों आदि का आश्रय लिया जाता है। यह तो अटल सिद्धान्त है कि बिना पुकारे, बिना हृदयकी करुण रागिनी सुनाये, बिना अपनी वेदना-गाथा रोये हमारा जीवन-धन नहीं आता। इस पुकारमें स्वाभाविक रूपसे ही गायन, रोदन, कीर्तन आदि विभिन्न रूप रेखाओंमें वह प्राणोंका कम्पन, हृदयकी ध्वनि, संगीत बनकर आ जाती है, अतएव हमारी सभी ध्यान-धारणाओं, साधना-आराधनाओंमें संगीत ओत-प्रोत है।

हमारी आर्य-संस्कृतिमें तो भक्ति-आराधना एवं संगीतका और भी अटूट सम्बन्ध है। यहाँ तो पद-पद पर भक्तिके साथ संगीतका प्रणय-बन्धन बँधा हुआ है, वे एक दूसरेसे कभी अलग नहीं रह सकते। हमारे यहाँ तो संगीत भक्तिके लिये ही है। भक्तिके ही आनुषंगिक-कर्म, उपासना, ज्ञान आदिके क्षेत्रों तक संगीतका कार्य-क्षेत्र विस्तृत है। इन्हींमें हमारे राष्ट्र, जाति, धर्म और भक्तिके अभ्युदयकी अमर भावनाएँ सन्निहित हैं। भारतीय दर्शनका तो सिद्धान्त ही है कि देश, जाति, धर्म, व्यक्ति आदि सभीके अन्तर्देशोंमें वही एक दिव्य सत्ता अवस्थित है। इन सभी रूपोंमें अपने अभ्युत्थानके लिये हम उसकी उपासनाका दृष्टिकोण रख सकते हैं, अर्थात् प्राणिमात्रके हित-चिन्तनमें ही हमारा आत्म-चिन्तन और उस आत्म-चिन्तनमें ही ब्रह्म-चिन्तन है, जिसके लिये साकार भावनात्मक दृष्टिसे हमने अपनी आराधना की भूमिका स्थिर की है और जिसके आधार स्तरोंमें संगीतकी अमर-कला गूँज रही है।

सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम नाद-ब्रह्मकी उत्पत्ति हुई और उसीकी आधार-शिला पर इस स्थूल प्रकृतिका निर्माण हुआ। शेषशायी भगवान् विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न विश्व-स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माने प्रथम चारों वेदोंका गान किया। इस वेद-गानकी विश्व-व्यापिनी ध्वनिसे अपने डमरूके घोषको मिलाकर कैलाशपति भोलेबाबा शंकरने सामवेदके आधार पर नाद-शास्त्रका प्रणयन किया, जो गान्धर्व-वेद वा गान्धर्व-गानके नामसे जगत्में विख्यात हुआ। शिवजीने अपने ताण्डव नृत्यसे जगत्में एक कम्पन उत्पन्न कर दिया। स्वर्गलोकमें सुरगणोंने उस शास्त्रका प्रसार किया और समय पाकर यह मर्त्यलोकमें आविर्भूत हुआ। उनके अधिष्ठाता देवी-देवता माने गये, उनके नाम, रूप, रंग, स्वभाव, चमत्कार आदिके अनुरूप उन-उन रागोंके भी स्वरूपादि निश्चित किये गये। इस प्रकार आर्य-संस्कृतिकी आराधनाके अधिष्ठान देव-देवियोंसे यह संगीत-शास्त्र उद्भूत हुआ। विभिन्न रूपसे इस नाद-विज्ञानसे जगतीका अन्तःपुर अनुप्राणित किया गया। देवर्षि नारदकी पीयूष-वर्षिणी मधुर वाणीने त्रिलोकीमें

प्रेम-भक्तिका सन्देश झंकृत किया। विद्याधिष्ठात्री शारदाने अपनी वीणाके मृदु नादसे जगत्‌को ज्ञानका प्रकाश दिया। ब्राह्मण-कालमें वेद-विद् विप्र-समाजने श्रुति, उपनिषद् आदिकी ऋचाओंके स्वर-उच्चारणसे देवताओंका आह्वान किया। इस प्रकार आर्य-संस्कृतिका निर्माण करते हुए, संगीत-शास्त्रका विकास किया गया। बस, यहींसे सगुण-साकारकी भक्तिमय आराधनाके साथ-साथ संगीतकी साधना प्रारम्भ हुई।

प्रेम-रूपिणी, प्रणय-विह्वला गोप-ललनाओंकी भोली, भावुक साधनाके फलस्वरूप संगीतके अलबेले कलाकर कन्हैयाने कालिन्दीकी पुलिन-निकुंजोंके किसी कदम्बकी डाल पर बैठकर विश्व-मोहिनी वंशीके सप्त-रन्ध्रोंमें एक मादक गुंजना भरदी, जिसकी जादूभरी ध्वनिसे मुग्ध होकर उन सबका भोला चित्त अपनी प्रेमभरी मुस्कान-माधुरीकी ओर आकर्षित कर लिया। वे पगली-सी दौड़ती आयीं और अपनेको उस रास-विलास-परिणयमें समर्पित कर दिया। गोप-ग्वाल, कुंज-बीथी, कालिन्दीका अजस्र स्रोत, समस्त विश्वके स्थावर, जंगम, अणु, परमाणु थिरक उठे सभी उस वेणु-निनादकी मादकता, माधुर्य और आकर्षणकी रस धारामें डूबने, उतराने लगे। बंशी कूक उठी।

इसके अनन्तर अनन्त काल तक संगीतका प्रवाह अविरल गतिसे प्रवाहित होता रहा, किन्तु समय स्थिर नहीं। कालगतिसे आर्य-संस्कृतिके शासनकी वह सात्विकी शान्त बेला विदेशी आक्रमणोंके साथ-साथ विनष्ट होने लगी और उसीके साथ-साथ जगत्‌में भौतिक सुखोंकी वारुणीसे जन-समाजका जीवन आप्लावित होने लगा। लोगोंके हृदयसे भक्ति-भावना लुप्त होने लगी। संगीत भी अपने वास्तविक स्वरूपको खो बैठा। उस समयके शासकों और शासित प्रजाने उसे केवल अपने मनोरंजनका साधन बना लिया। किन्तु हम देखते हैं कि भारतीय इतिहासके मध्य-युगमें अचानक जगत्‌के जीवनमें एक क्रान्तिकारी पट-परिवर्तन होता है। भक्ति-आराधना और संगीतकी सोयी मादक कल्लोलिनियाँ एक साथ जाग उठती हैं।

भारतीय जीवनके रंग-मंच पर एक साथ सूर, कबीर, नानक, तुलसी, चैतन्य, मीरा, हरिदास, तुकाराम आदिकी संगीत-काव्य, भक्तिकी प्रतिमूर्ति आत्माएँ अवतरित होती हैं। उनकी सम्मिलित अन्तः स्वर-लहरीसे भक्ति-विभोर हो एक अजस्र माधुर्य धारा बहने लगती है। संसार उसमें विनिमज्जन कर अपने भौतिक विलासिता-कान्त-मानसका प्रक्षालन कर जीवनके बिखरे तन्त्रोंको अपने उस लक्ष्यमें जोड़ देता है। आज भी उनके लहराते भक्ति-काव्य-रस-सिन्धुमें निमग्न होने पर जगत् अपनेको विस्मृत कर बैठता है। आज भी हमारे कर्ण-कुहरोंमें, हृदय-गुहामें, प्राण, आत्मा, रग-रगके अन्तस्तरोंमें सूरके इकतारे, तुलसीके मंजीर, कबीर और नानकके तानपूरों, चैतन्यकी खोल-करताल, मीराके नूपुरों, स्वामी हरिदासके तम्बूरे और तुकारामकी खंजरियोंके भक्ति-विवर्द्धक मंगल-गान गूँज रहे हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भक्त-पुंगवोंने भी अपनी भावनाओं, आराधनाओंको संगीतके सहारे अपने प्रेमाराध्यके चरण-पंकजोंमें समन्वित किया। हमारी समस्त कर्म उपासनाकी पद्धतियोंमें संगीतको प्रमुख स्थान प्राप्त हैं।

इस प्रकार भक्ति-आराधना और संगीतके कोमल तारोंमें हमारी भारतीय संस्कृति बँधी हुई है, जिससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध चिर-कालीन, सनातन, और शाश्वत हो गया है।

‘उपासनाका लक्ष्यही है लोक-कल्याणकी सीढ़ियोंका निर्माण। वह साधक महान् वीर और पुरुषार्थी है, जो उपासनाकी चतुर्थ अवस्थामें पहुँचकर लोक-कल्याणके मार्गको प्रशस्त करता है—स्वयं दिव्य बन कर जन-जनको दिव्यताके साँचेमें ढालता है।’

मिलन-तीर्थ का साधक-यात्री

श्रीशिवकुमार शास्त्री

उपासना सर्वप्रिय और लोक-व्यापक शब्द है। प्राय: लोग ‘उपासना’ का प्रयोग करते हैं। जो लोग ‘उपासना’ करते हैं, वे तो ‘उपासना’का प्रयोग करते ही हैं। पर जो लोग ‘उपासना’ नहीं करते, वे भी किसी न किसी कारणवश ‘उपासना’ का प्रयोग करते ही हैं। अतः ‘उपासना’के अर्थ और उसके लक्ष्यके सम्बन्धमें विचार होना आवश्यक है। ‘उपासना’ के समानार्थी कुछ और भी शब्द हैं, जिनका लोग इसीके अर्थके रूपमें प्रयोग करते हैं। जैसे—आराधना, उपस्थान और उपवास आदि। पर हम यहाँ ‘उपासना’ को ही लेंगे। उपासनाका शाब्दिक अर्थ है समीप वैठना। पर ‘उपासना’ एक विशेष अर्थवाची शब्द है। इसका जहाँ भी कहीं प्रयोग होता है, एक विशेष अर्थके लिए प्रयोग होता है। वह विशेष अर्थ है परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म और देवी-देवता आदि। अतः ‘उपासना’ के शाब्दिक अर्थ में भी एक विशिष्ट ध्वनि है। ‘उपासना’ के शाब्दिक अर्थके अनुसार हम ‘समीप वैठते हैं’, पर किसके ? परमात्मा, ईश्वर या अपने इष्टदेवके। यह ‘समीप वैठना’ भी एक विशिष्ट प्रकारका होता है, यह वैठना उस साधारण प्रकारके वैठनेके सदृश नहीं होता, जिसमें केवल वाह्य नियमों पर ही ध्यान दिया जाता है। इस ‘वैठने’ में तो वाह्य नियमों पर ध्यान दिया ही जाता है, अन्तः प्रवृत्तियों परभी दृष्टि केन्द्रित रखी जाती है। सत्य तो है कि इस ‘बैठने’ में अन्तःप्रवृत्तियों परही बल दिया जाता है। अन्तःप्रवृत्तियों से तात्पर्य मनकी उस श्रद्धा और भावसे हैं, जो मानव हृदय-कोषके अक्षय रत्न होते हैं। साधक प्रभु या अपने इष्टदेवके समीप वैठकर, चारों ओरसे अपने मनको समेटकर, उसे अपने प्रभु या आराध्य देवताके चरणोंमें डाल देता है। यही ‘उपासना’ का अर्थ है।

जिस प्रकार बीज बोने पर अंखुवा निकलता है, बढ़ता है, पल्लवित होता है, और उसमें फूल-फल लगते हैं, उसी प्रकार ‘उपासना’ का अंकुर भी शनैः शनैः बढ़ता है, पल्लवित होता है, और उसमें फूल-फल लगते हैं। ‘उपासना’के अंकुरमें फूल-फल लगनेका अर्थ है, साधक की वह अवस्था, जिसे लोग ‘समाधि’ कहते हैं। जिस प्रकार वृक्षमें फल-फूल लगने पर,

वृक्ष आनन्द-मूल बन जाता है, उसी प्रकार 'समाधि' अवस्थामें 'उपासना' भी आनन्ददायिनी बन जाती है। 'समाधि' अवस्थामें साधक को चतुर्दिक् आनन्द ही आनन्द का बोध होता है। उसका भीतर और बाहर पूर्ण आनन्दालोकसे उद्दीप्त हो उठता है। पर समाधिका अर्थ यह नहीं है कि साधक किसी कन्दरा या गुफ़ामें बैठकर, योगमें समाधिस्थ हो। यहाँ समाधिका अर्थ तो केवल यह है कि साधक अपने मनको चारों ओरसे समेटकर अधिक देर तक अपने आराध्य देवके समीप बैठे और अपने प्रभुकी ओर अत्यधिक एकाग्र हो सके। इतना एकाग्र होसके कि वह अपने मनको अपने आराध्यदेवमें 'तादात्म' करदे। 'उपासक' की यही समाधि है। उपासनाकी यही वह सर्वश्रेष्ठ अवस्था है, जिसे परम आनन्दका मूल कहते हैं।

पर जिस प्रकार अँखुएके पल्लवन और विकसनके लिए खाद और जलकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपासनाका विकासभी साधकके तीन गुणोंसे होता है—(१) साधक अधिक से अधिक समय तक उपासना करनेमें समर्थ हो, (२) साधककी उपासनामें सतत एक भावकी स्थिरता हो, और (३) साधक पूर्ण श्रद्धाके साथ अपनी साधनामें संलग्न हो। साधकके ये गुण, ऐसे गुण हैं, जो शनैः शनैः उसकी उपासनाके अंकुरको पल्लवित और पुष्पित करेंगे। बहुत संभव है कि उपासनाके मार्ग पर चलते हुए साधकके समक्ष ऐसे भयानक चित्र उपस्थित हों, जिनसे उसका मन काँप जाय। साधकको चाहिए कि वह ऐसे चित्रोंसे सजग और सावधान रहे। उसका ध्यान केवल उस 'अमरफल' की ओर होना चाहिए, जो आनन्द रससे भरा हुआ है और उसकी आँखोंके सामनेही कुछ दूर पर है। साधकको चारों ओरसे आँखें बन्द करके मनको समेटकर उसी ओर बढ़ना चाहिए। यदि साधक और 'अमर फल' के बीचमें खाइयाँ हों, काँटों भरा पथ हो, तो भी साधकका ध्यान केवल 'अमरफल' पर ही केन्द्रित होना चाहिए। 'साधक' को केवल अपनी उपासनाके पथ पर चलना चाहिए, आगे बढ़ना चाहिए। साधकके पुरुषार्थ और उसकी श्रद्धा पर उसके आराध्यदेव अवश्य विमुग्ध हो उठेंगे और वे स्वयं अपने कृपामय, लम्बे हाथ आगे बढ़ाकर उसे अपने पास खींच लेंगे, अपनी अमृतमयी कृपाका अधिकारी बना देंगे।

पर जबतक साधकको अपने आराध्यदेवके कृपापाणिकी अवलम्ब न मिले, उसे बड़े धैर्यके साथ उपासनाके पथ पर चलना चाहिए। निश्चय उसकी उपासना शनैः शनैः पल्लवित और विकसित होगी। उपासना का पूर्ण लक्ष्य है, आराध्यदेव में एकात्मकता, पूर्ण आनन्द की तादात्मकता। पर इस लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए साधकको चार सीढ़ियाँ लाँघनी पड़ेंगी; दूसरे शब्दोमें उसे चार स्थितियोंसे होकर आगे बढ़ना पड़ेगा। उपासना जब विकसित होने लगेगी, तो सर्वप्रथम साधकका प्रवेश उस स्थिति या अवस्थामें होगा, जिसे 'वाह्य समाधि' कहते हैं।

साधककी यह अवस्था अपने नामके ही अनुरूप होती है। इस अवस्थाका विकास भी उन वाह्य साधनोंके ही द्वारा होता है, जिन्हें साधक अपनी आँखोंसे देखता है या कानोंसे सुनता है। वे साधन हैं—प्राकृतिक सौन्दर्य, जगत्में ईश्वरके विचित्र कार्यकलाप, दैवी घटनाएँ सृष्टिका वैचित्र्य और मानव प्रकृति का वैषम्य। साधकको चाहिए कि वह अपनी इस अवस्थामें प्रकृतिके सौन्दर्यका अवलोकन करे, वह संसारमें ईश्वरकी विचित्र लीलाओं को देखे,

और सुने। जन्म और मृत्युके व्यापार में वह ईश्वरकी शक्तिका अनुभव करे। पर्वतोंकी उच्चता और पयोधिकी गंभीरता में वह किसी विराट की शक्तिका अनुभव करे। वह जगत् के वैचित्र्यको देखकर पुलकित और आनन्दित हो। आराध्यदेवके समीप बैठने पर, वह जगत्के प्रत्येक कार्य-व्यापारमें, प्रत्येक कणमें उनकी सत्ताका अनुभव करे। वह यह समझो कि सारा जगत् उसीके आराध्य देवका प्रतिबिम्व है—उसीकी लीलाओंका विस्तार है।

निश्चय साधक अपनी इन अनुभूतियोंके द्वारा आगे बढ़ेगा और वह अपनी उपासना की उस दूसरी स्थिति या अवस्थामें प्रवेश करेगा, जिसे 'ज्ञान समाधि' कहते हैं। 'वाह्य समाधि' की तरह 'ज्ञान समाधि' भी अपने नामकी ही ओर देखती है। 'ज्ञान समाधि' वह अवस्था है, जिसमें साधकको ज्ञान प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें उसका मन जगत्की वाह्य और स्थूल स्थितियों से 'विरक्त' होकर केवल परमात्माकी खोजमें ही संलग्न हो जाता है। 'वाह्य समाधि' में साधक केवल विमुग्ध हो जाता था, पर ज्ञान समाधिकी अवस्थामें वह उस परमात्माकी खोजमें विकल हो उठता है, जो कण-कण में समाविष्ट है। 'ज्ञान समाधि' की अवस्थामें साधकको केवल एकही वस्तु 'सारमयी' और केवल एकही वस्तु अत्यधिक 'सुन्दर' ज्ञात होती है और वह है परमात्मा। इस अवस्थाका विकास भी उन्हीं साधनोंके द्वारा होता है, जिन्हें ज्ञानके साधन कहते हैं। इन साधनोंमें शरीरकी नश्वरता, जीवनकी लघुता, प्रकृतिकी परिवर्तनशीलता और पृथ्वीकी अनन्तता तथा असीमता आदिको लिया जा सकता है। साधकको चाहिए कि वह अपनी इस अवस्थामें अपने शरीरकी नश्वरता और परिवर्तनशीलता पर विचार करे। उसे सोचना चाहिए कि उसका जीवन क्यों और किस लिए है? उसे बारवार अपने मनमें यह बात लानी चाहिए कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है—उद्देश्य क्या है? साधक जितना ही इन बातों पर सोच-विचार करेगा, उतना ही अधिक उसका मन, उस परमात्माकी ओर अग्रसर होगा, जो सर्व प्रकार से पूर्ण, तृप्त और सक्षम है।

निश्चय, साधक अब अपनी उपासनाकी उस तीसरी स्थिति या अवस्थामें प्रवेश करेगा, जिसे 'भाव समाधि' कहते हैं। भाव समाधि पूर्ण भावमय होती है। भाव समाधिमें साधक अपना सब कुछ 'ब्रह्म' को—अपने आराध्य देवताको समर्पित कर देता है। 'भाव समाधि' में भावही साधक का अवलंब होता है। साधक जितना ही अधिक भावका अंचल पकड़ता है, उतनाही अधिक उसकी भाव अवस्थाका विकास होता है। भाव अवस्थाकेपूर्ण विकासका ही नाम ध्यान समाधि है। यही उपासनाकी वह चतुर्थ अवस्था है, जिसमें साधक को ब्रह्म या अपने आराध्यदेवकी अभिन्नताकी अनुभूति होती है। इसी अवस्थामें वह यह समझता है कि वह परमात्माका है और परमात्माका जो कुछ है, वह उसीके लिए है। यही वह अवस्था है, जिसमें साधक को यह अनुभूति होती है कि यह जगत् उसीके आराध्यदेव का प्रतिरूप है। इसी अवस्था में वह 'सियाराम मय सब जगजानी' का अमर ज्ञान प्राप्त करता है। इसी अवस्थामें वह राग विराग, द्वेष और मत्सर से रहित होकर, संसारके संपूर्ण प्राणियों से प्रेम करता है।

उपासना चतुर्थ अवस्थाकी प्राप्तिके लिए ही की जाती है। क्योंकि चतुर्थ अवस्थामें व्यक्तिके कल्याणके साथ ही साथ समष्टिका भी कल्याण निहित है। साधक अपनी उपासना की चतुर्थ अवस्थामें जब राग विराग और द्वेष से रहित होकर, लोकको समभावका दान देता है, तो क्या यह सत्य नहीं है कि वह लोक में सुष्ठता और सदाशयताका प्रचार करता है। यदि समाजमें उपासना का प्रचार हो जाय और उपासना जीवनकी दैनिक वस्तु बन जाय, तो क्या यह सत्य नहीं है कि वह जन-जन से होती हुई लोककल्याण की सीढ़ियाँ बनायेगी। उपासनाका लक्ष्य ही है लोक-कल्याणकी सीढ़ियोंका निर्माण। वह साधक महान् वीर और पुरुषार्थी है, जो 'उपासना' की चतुर्थ अवस्थामें घुसकर, लोककल्याणके मार्गको प्रशस्त करता है—स्वयं 'दिव्य' बनकर जन-जनको दिव्यताके साँचे में ढालता है। क्या उस महान् आनन्दका कोई चित्रण कर सकेगा, जो जनजनके 'दिव्य' होने में उत्पन्न होगा। ऋषिने उस आनन्द का चित्रण निम्नांकित शब्दों में किया है—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तद,
स्वयं तदन्तःकरणेनगृह्यते।

वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, स्वयं ही अन्तःकरण से उसकी प्रतीति होती है।

—+—

ज्योतित हो जन-जन का जीवन

ज्योतित हो जनजन का जीवन।
सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में हो
प्रतिविम्बित मानव का शुचि मन।
मिटे अमा अज्ञान कालिमा,
फैले दिशि-दिशि ज्ञान-लालिमा,
नई चेतना नव उमंग में
जाग उठे धरती का कन-कन।
प्रेम पद्म उर-उर खिल जाये
स्नेह सुधा सौरभ सरसाये
जनजन का कुटुम्ब धरती हो
एक हृदय हो और एक मन।
वाणी गीत विजय के गाये
प्राणों को पीयूष पिलाये
उन्नति करती रहे विश्व में
मंगलमय मानवता निशि दिन।
ज्योतित हो जनजन का जीवन।

श्रीरामेश्वरदयाल दुबे

"जिसने भगवद्गीताको कुछभी पता है, गंगाजलकी जिसने एकभी बूंद पी है और जिसने एक बारभी भगवान कृष्णचन्द्रका अर्चन किया है, उसकी यमराज क्या चर्चा कर सकता है ? अतः हे मूढ़, निरन्तर गोविन्दको ही भज ।"

श्रेष्ठ आराधनाका एक स्वरूप

श्रीबैजनाथ कपूर

भारतीय जीवनका चरम लक्ष्य मोक्षही माना गया है । मोक्षको ही आधार मानकर हमारे सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्थाकी रचना हुई है । भलेही मोक्ष प्राप्तिके साधनोंमें मतभेद हो, परन्तु लक्ष्यमें सब एक मत हैं । स्पष्ट ही इसका कारण है । ऋषियोंके मतानुसार चौरासी लक्ष योनियोंके पश्चात् मानव योनि प्राप्त होती है । अवतो पाश्चात्य वैज्ञानिक भी लाखों योनियोंके पश्चात् मानव-योनि प्राप्त होनेकी बात मानते हैं । जीव-विज्ञानका पाश्चात्य विशेषज्ञ हेकल लिखता है, 'जीवनके प्रारम्भसे मनुष्य योनितक पहुँचनेमें जीवको छप्पन लाख तिहत्तर सहस्त्र योनियोंको पार करना पड़ता है ।'

दुर्लभ मानव योनि प्राप्त होनेपर, आवागमनके चक्रसे छूटनेके लिये ब्रह्म मोक्षप्राप्ति, भगवत्-प्राप्ति और आत्म साक्षात्कारके लिये सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, परमब्रह्म, परमेश्वरकी आराधना आवश्यक हो जाती है । आराधनाका रूप क्या हो । आराधना किस प्रकार की जाय, साधन क्या हो, इत्यादि प्रश्न अतीत कालसे दार्शनिकों एवं विचारकोंके सामने बराबर आते रहे हैं । प्रत्येक दार्शनिक और विचारकने अपने-अपने मतानुसार मार्ग निर्देशन किया है । कोषमें आराधनाका अर्थ सेवा, पूजा, उपासना एव सुश्रुषा है । हिन्दी शब्द सागरके अनुसार आराधनापूजा या उपासना है ।

स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें 'समस्त मानव जातिका, समस्त धर्मोंका चरम लक्ष्य एकही है । वह चरम लक्ष्य है, भगवान्‌से पुनर्मिलन; दूसरे शब्दोंमें उस ईश्वरीय स्वरूपकी प्राप्ति, जो प्रत्येक मनुष्यका प्रकृत स्वभाव हैं । यद्यपि सबका लक्ष्य एकही है, तोभी लोगोंके विभिन्न स्वभावोंके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिके साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं ।

लक्ष्य और उसकी प्राप्तिके साधनों-दोनोंको मिलाकर योग बनता है । योगका अर्थ है जोड़ना, अर्थात् अपनेको उस परमात्मासे जोड़ना, जो हमारा प्रकृति स्वरूप है । योग अथवा मिलनके साधन कई हैं पर उनमें मुख्य हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग ।

कर्मयोगके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्योंके द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त करता है।

भक्तियोगके अनुसार ईश्वरीय स्वरूपकी अनुभुति, सगुण ईश्वरकी भक्ति और प्रेमके द्वारा होती है।

राजयोगके अनुसार मनुष्यको अपने ईश्वरीय स्वरूपकी अनुभूति, मन-संयमके द्वारा होती है।

ज्ञानयोगके अनुसार ईश्वरीय स्वरूपकी अनुभूति ज्ञानके द्वारा होती है।

यह सब एक ही केन्द्र-भगवान्‌की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं।

भगवद्‌वाणी गीतामें वारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्तियोगकी चर्चा करते हुए कहा है—'नित्य ध्यान करते हुए मुझमें मन लगाकर,जो मेरी उपासना करता है, उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानताहूँ।' भगवान्‌ने इसी अध्यायमें अपने भक्तोंको, स्पष्ट शब्दोंमें, आश्वासन भी दिया है–'जो जन मुझमें रमकर, सर्व कर्म मुझे सौंपकर निष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं तथा जिनका चित्त मुझमें पिरोया हुआ है, उन्हें मृत्युरूपी संसार सागरसे मैं शीघ्र ही पार कर देता हूँ।'

आवागमनके चक्र अथवा जन्म-मृत्युकी विभीषिकासे त्राण पानेके लिये भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट मार्ग निर्देशन किया है। अर्जुनको मोक्ष प्राप्तिके साधनोंको बताते हुए भगवान्‌ने कहा है—'कोई ध्यान मार्गसे आत्मा द्वारा आत्माको अपनेमें देखता है, किन्तु कितने ही इसके लिए ज्ञान मार्गका और कितने ही कर्म मार्गका सहारा लेते हैं।

'कोई इन मार्गोंको न जाननेके कारण दूसरोंसे परमात्माके विषय में सुनकर, सुने हुएपर श्रद्धा रखकर, उसमें रमकर उपासना करते हैं। वे भी मृत्यु-पयोधिको तर जाते हैं।'

मोक्ष प्राप्तिके साधनोंकी चर्चा करते हुए, आराधना-स्वरूप नवें अध्यायमें भगवान् ने कहा है—'दृढ़ निश्चय वाले, प्रयत्न करने वाले, वे भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं। दूसरे अन्य लोग अद्वैत रूपसे अथवा बहुरूपसे सब कहीं रहने वाले मुझको ज्ञान द्वारा पूजते हैं।'

श्रीमद्‌भगवद्‌गीतामें ब्रह्म प्राप्तिके लिये अनेक साधन बताये गये हैं। ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचनाही ब्रह्म प्राप्तिके लिये की गयी है। ब्रह्मविद्या गीताका प्रतिपाद्य विषय है। जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य मात्र इस ज्ञान गंगामें डुबकियाँ लगाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता द्वारा बहाई गयी ज्ञान-गंगा, कर्म-गंगा युग-युगोंसे मानव मात्रको भवके दुःखोंसे छुड़ाती आ रही है। भगवान् कृष्णका यह अध्यात्म दीप मानव जातिको, उसके अस्तित्व तक प्रकाश देता रहेगा।

आदि जगद्‌गुरु शंकराचार्यने अपने एक स्तोत्रमें भवके दुखोंसे विमुक्तिका निम्नांकित सुन्दर और सरल उपाय बताया हैः—

भगवद्गीता किंचिदधीता गंगाजल लव कणिका पीता।
सकृदपि यस्य मुरारि समर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़ मते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥

जिसने भगवद्गीताको कुछभी पढ़ा है, गंगाजलकी जिसने एक बूँद भी पी है और जिसने एक बारभी भगवान् कृष्णचन्द्रका अर्चन कियाहै, उसकी यमराज क्या चर्चा कर सकता है ? अतः हे मूढ़ ! निरंतर गोविन्द को ही भज, क्योंकि मृत्युके आनेपर "डुकृञ् करणे" (केवल डकार) रक्षा न कर सकेगी। धन, कुटुम्ब संसारकी रटनासे भी रक्षा न हो सकेगी।'

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें अपने विराट्-स्वरूपका दर्शन कराया था। यह विराट-स्वरूप सारा संसार ही है। अनासक्ति-भावसे संसारकी आराधना अर्थात् सेवा भगवान्की ही सेवा है। गीतामें अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंकी चर्चा करते हुए भगवान्ने व्यवहारिक जीवनमें हमारा पथ-प्रदर्शन किया है। निर्वाणकी प्राप्तिके लिये "सर्वभूत-हितेरतः" पर बार-बार बल दिया है गीताके विभिन्न अध्यायोंमें भी इसकी चर्चाकी गयी है—'जो प्राणी मात्रके प्रति द्वेष रहित, सबका मित्र, दयावान्, ममता रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान्, सदा संतोषी, योगयुक्त, इन्द्रिय-निग्रही और दृढ़-निश्चयी है, तथा जिसने मुझमें अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

श्रीमद्भागवत महापुराणमें श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित को भगवान्की आराधना का एक सुगम उपाय बताया है। उन्हींके शब्दोंमें वह उपाय इस प्रकार है-'जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान, भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। मनुष्य जन्मका यही इतना लाभ है कि चाहे जैसे हो, ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा अपने धर्मकी निष्ठासे, जीवनको ऐसा बना लिया जाय कि मृत्युके समय भगवान्की स्मृति अवश्य बनी रहे। राजर्षि खट्वांग अपनी आयुकी समाप्तिका समय जानकर दो घड़ीमें ही सबकुछ त्यागकर भगवान्के अभय पदको प्राप्त हो गये।'

गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने केवल एक श्लोकके चौथाई पदमें ही हमें इस संसारमें राजा जनककी भाँति अनासक्ति-भावसे रहकर परम पद प्राप्त करनेका एक अत्यन्त सरल, सुबोध, सुगम मन्त्र दे दिया है। वह मन्त्र है—'मामनुस्मर युध्य च" अर्थात् मेरा स्मरणकर और जूझता रह। आराधनस्वरूप भगवान्को स्मरण करते हुए मनुष्य अपने कर्मको पूरा कर संघर्षरत रहे। आशय स्पष्ट ही है, अर्थात् एक हाथमें माला तो दूसरे हाथमें फावड़ा हो।

मोक्ष प्राप्तिके लिये भगवान्की सच्चे रूपमें आराधना करनी चाहिये। आराधना का लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति। 'मोक्ष-प्राप्तिके साधन ही भगवान्की आराधना हैं' यह समझ-

कर हमें सबकी सेवा करनी है। मार्ग-भ्रम न हो, इसलिये हमें सावधान भी रहना है। आराधनाके वाह्य अङ्गोंको ही हमें सबकुछ नहीं मान लेना है। यदि हमें ब्रह्मकी प्राप्ति करनी है, तो वाह्य स्थितियोंसे ऊँचा उठकर स्वर्गीय भूमिपर पहुँचना है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा तथा पोथी और पूजा यह धर्मकी शिशुशालाएँ हैं। इनके द्वारा आध्यात्मिक शिशु पर्याप्त बलवान होता है, जिससे वह उच्चतर सीढ़ियोंपर पैर रखनेमें समर्थ होता है। यदि उसकी इच्छा है कि धर्ममें उसकी गति हो, तो ये सीढ़ियां आवश्यक हैं। ईश्वर प्राप्तिकी पिपासा उत्पन्न होनेके साथही साथ मनुष्यमें सच्चा अनुराग, सच्ची भक्ति, और सच्ची आराधनाका भाव उत्पन्न हो जाता है।

इस सम्बन्धमें विवेकानन्दके विचार स्तुत्य हैं—'घण्टा दाँयी ओर बजना चाहिए, या बाँई ओर, चन्दन मस्तक पर लगना चाहिए या अन्यत्र, आरती दो बार होनी चाहिए या चार बार, इन प्रश्नोंमें ही जो दिन-रात उलझे हैं, वे बड़े भाग्यहीन हैं। यदि अपना और देशका कल्याण चाहते हो, तो घण्टा आदिको गंगाजीको सौंपकर साक्षात् भगवान् नारायण-विराट्की मानव देहधारी प्रत्येक मनुष्यकी पूजामें तत्पर हो। यह जगत् भगवान्का ही विराट रूप है। जगत्की पूजाका अर्थ है भगवान्की सेवा। वास्तविक कर्म इसीका नाम है, निरर्थक विधि-उपासनाके प्रपञ्चोंका नहीं।

युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञमें सभी आगन्तुक व्यक्तियोंके चरण पखारकर भगवान् कृष्णने हमारे सामने एक आदर्श उपस्थित किया है। गोमाताकी सेवाकर गोपाल बन उन्होंने कर्मका मार्ग प्रशस्त किया। यदि हम विजय और वैभवको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धारी पार्थके सदृश ही कार्य करना है। योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन से अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया। इन दोनोंका संगम जहाँ होगा, वहीं श्री है, विजय है, वैभव है और है अविचल नीति। इस प्रकार प्रयत्न पूर्वक सेवाभावसे कर्म करना ही वास्तविक और सच्ची आराधना है।

श्रीकृष्ण वचन-सुधा

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुतसे जन्म हो चुके हैं। परन्तु परंतप, उन सबको तू नहीं जानता और मैं जानता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है। मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा तथा सबभूत प्राणियोंका ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृतिको आधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।

श्रीमद्भगवतगीता

"श्रीमद्‌भागवतके रूपमें रसराज नंदनंदन वासुदेव श्रीकृष्णकी लीलामृत धारा खूब बहाई, जिससे ये स्वयं तृप्त हुए और उनकी अपूर्णता सदाके लिए मिट गई। परम हंसोंका तो भागवत वह अमृतमय मान सरोवर है, जिसमें वे सतत विहरण करते हैं, निमग्न रहते हैं।"

पिबत भागवतं रसमालयम्

श्रीस्वामी अचलानंदजी

आराधना शब्द 'राध्‌धातु' से निष्पन्न होता है। सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याकरण-ग्रन्थों में राध्‌धातुका 'वृद्धि' और 'संसिद्धि' अर्थ कहा गया है। सचमुच भगवद्-आराधनासे ही वृद्धिः (अलब्ध लाभः), संसिद्धि (लब्धस्य परिरक्षणम्) हो सकती है। प्रभु आराधना स्वयं ही आराधक का योग-क्षेम वहन करती है।

आराधनाका स्वरूप उस समय निखर उठता है, जब वह भागवत रससे अनुप्राणित हो जाता है।

भागवत रसपानके अतिरिक्त हम जिस विषयको रस समझकर पीते रहते हैं, वह वास्तवमें रस नहीं, विष है। यह तब समझमें आता है, जब मानवको भागवत-रस-पानका परम सौभाग्य प्राप्त होता है। क्योंकि भागवत-रस उस कल्पवृक्षके फलका रस है जिसकी जड़ (मूल) श्रीकृष्ण है (यस्य निश्वसिता वेदाः)। किसीने पूछा—क्योंजी फलमें तो छिलका गुठली आदि त्याज्य अंश भी होते हैं, तो क्या श्रीमद्‌भागवतमें भी छिलका, गुठली जैसे त्याज्य अंश है ? नहीं बिल्कुल नहीं। यह तो मूर्तिमान् रस है। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्लीके सप्तम अनुवाककी श्रुति है—"रसो वै सः"। यहाँ तत्पदार्थ-सुकृत (स्वयं रचा हुआ अजन्मा)है जो जगत्‌का मूल-अधिष्ठान है। उस रसके व्यक्त अव्यक्त स्वरूप श्रीकृष्ण हैं। श्रुति आगे कहती है—"रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" ब्रह्म (श्रीकृष्ण) रूप, रसको प्राप्त कर ही ब्रह्मनिष्ठ (श्रीकृष्ण प्रेमी) आनन्दयुक्त होता है। इस कृष्ण-यजुर्वेदीय श्रुतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण जगत्‌का आश्रय ब्रह्मानन्द रस ही है। वह रस श्रीकृष्ण हैं। तो श्रीमद्‌भागवतका मूल निगमागम प्रतिपाद्य औपनिषद् पुरुष रसराज श्रीकृष्ण हैं, इसमें कहना ही क्या है ? कुछ और आगे बढ़ें तो श्रीकृष्णकी ब्रह्मसे भी प्रकृष्टता ज्ञात होगी। मल्लानामशनिः।जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ मथुराकी रङ्गभूमिमें

पधारे, सम्पूर्ण रसोंकी साक्षात् उपलब्धि हुई (जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी) ।'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'(गीता १४-२७)परमात्मा श्रीकृष्ण स्वयं स्व-स्वरूप व्यक्त करते हैं मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा-प्रतिमा हूँ, अर्थात् जैसे घनीभूत प्रकाशही सूर्यमण्डल है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म मैं ही हूँ ।'चिदानन्दमय देह तुम्हारी, विगत विकार जान अधिकारी ।' यह अनन्त अचिन्त्य वैचित्र्य श्रीकृष्णमें ही सम्भव है ।

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः । (१२-५-१)

श्रीमद्भागवतमें बार-बार विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णका ही वर्णन है ।

'एहि महँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य कृष्ण भगवाना ।'

इस प्रकार श्रीकृष्ण रूप रससे ओत-प्रोत होनेसे श्रीमद्भागवत् श्रीकृष्ण स्वरूप रस रूप ही है ।

दूसरी बात 'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्' । लोक में तोतेके मुख से स्पर्श किया हुआ फल अमृतके समान सुस्वादु होता है । वैसे ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंको सरस बनाने वाला श्रीमद्भागवत फल, वैकुण्ठ में फला और परमभागवत श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् वेदव्यासको प्राप्त हुआ । व्यासजीने अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र अमलात्मा परमहंस श्रीशुकके मुखमें दे दिया । उन्होंने इस अलौकिक फलका खूब आस्वादन किया । फिर श्रीशुकके मुखसे यह फल वसुधा पर गिरा—अवतीर्ण हुआ । श्रीशुकमुख–अमृतद्रव घुल जाने से यह भागवत रस मधुरातिमधुरतम बन गया ।

यहाँ श्रीशुक द्वारा भागवताध्ययनका संक्षिप्त परिचय दे देना अप्रासङ्गिक न होगा । क्योंकि उन्होंने श्रीमुखसे ही द्वितीय स्कन्धके आरम्भमें अपने भागवत-पठनका कारण बताया है ।

'इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म सम्मितम् ।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ (२-१)

साक्षात् (ब्रह्म-सम्मितम्)=ब्रह्म श्रीकृष्ण स्वरूप श्रीमद्भागवत पुराण का (द्वापर आदौ यस्य, तस्मिन् कलियुग प्रवेश काले) श्रीकृष्ण द्वैपायन से मैंने अध्ययन किया ।

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोक लीलया ।
गृहीत चेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥' (१२)

राजर्षि परीक्षित् ! मैं निर्गुण ब्रह्म (प्रत्यगभिन्न चेतन) में पूर्ण प्रतिष्ठित हूँ । फिर भी भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंने बलात् मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित कर लिया । यही कारण है कि मैंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया ।

वास्तव में श्रीहरिके दिव्य गुण ही ऐसे मधुर हैं, जिससे आकर्षित होकर बड़े-बड़े अमलात्मा, योगीन्द्र, मुनीन्द्र आत्माराम परमहंस भी भगवान् की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूत गुणो हरिः॥

फिर व्यासनन्दन श्रीशुकको तो भगवद्भक्त अत्यन्त प्रिय हैं। उनके हृदयको श्रीकृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य, माधुर्य, भक्तवात्सल्यादि गुणोंने अपनी ओर खींच लिया। इससे विवश होकर उन्होंने इस विशाल ग्रन्थ श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह श्रीमद्भागवतामृत-पान स्वर्गादि सुखोंकी तरह अविद्या ग्रन्थि रहित, जीवन-मुक्त ब्रह्मविज्ञानियों द्वारा त्याज्य नहीं है, प्रत्युत् परमसेव्य है।

श्रीमद्भागवत्का नामही पारमहंस्य संहिता है। वास्तवमें इस रसपानके वे ही अधिकारी हैं, जो काम, क्रोध, लोभादि विकारोंसे रहित, तृष्णारहित, स्थिरबुद्धि, अकिञ्चन (श्रीकृष्णके अतिरिक्त जिन्हें कोई वस्तु प्रिय नहीं है), बाहर-भीतर से पवित्र और सुखके धाम हैं। (षट्विकारजित् अनघ अकामा, अचल अकिंचन सुचि सुख धामा) क्योंकि श्रीमद्-भागवतका अवतरण इन्हीं परमहंसोंके लिए हुआ है।

एक बार सरस्वतीके पश्चिमतट-स्थित, शम्याप्रास नामक आश्रमके सन्निकट ब्रह्मनदी सरस्वतीके, पावन तट पर बैठे हुए श्रीवेदव्यासजीका मन सहसा खिन्न-सा हो उठा। विचार करने लगे—'क्या कारण है ? जन्मतः मैंने अपने कर्त्तव्यका पूर्ण पालन किया है। मैं ब्रह्मतेज से सम्पन्न एवं समर्थ हूं। फिर मेरा हृदय अपूर्णकाम सा जान पड़ता है, क्यों ?' उन्होंने गहराईसे सोचा—अवश्य ही मैंने अब तक भगवान्की उन दिव्य लीलाओंका विस्तृत निरूपण नहीं किया, जो भागवतधर्म-प्राण परमहंसोंकी रमणस्थली हैं। एकमात्र भगवान्की लीलाही उनके जीवन का आधार है। तो हो न हो, मेरी अपूर्णता, मेरे असन्तोषका यही कारण है। क्योंकि जिस कृतिसे श्रीकृष्ण प्रसन्न न हों, वह तो अपूर्ण रहेगी ही।' इसके पश्चात् देवर्षि नारदका आगमन हुआ। व्यासजी ने उनके सामने अपना सन्देह प्रकट किया। देवर्षि नारदने अपने विस्तृत व्याख्यान द्वारा उसी बातका स्पष्टीकरण किया, जिस पर व्यासजीको सन्देह था। उन्होंने कहा—व्यासदेव ! भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंसोंके विहार-स्थान श्रीकृष्णकी चेष्टा (लीला) का वर्णन करो

समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्।

× × × ×

ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभोः।

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन ने वैसा ही किया। श्रीमद्भागवत्के रूपमें रसराजनन्द-नन्दन वासुदेव श्रीकृष्णकी लीलामृत धारा खूब बहाई, जिससे वे स्वयं तृप्त हुए और उनकी अपूर्णता सदाके लिए मिट गई। परमहंसोंका तो भागवत वह अमृतमय मानसरोवर है, जिसमें वे सतत् विहरण करते हैं, निमग्न रहते हैं।

क्योंजी, इस तरह तो श्रीमद्भागवत परमहंसोंकी ही निजी-निधि हुई ? औरोंकी उसमें गति नहीं ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंके जीवन-दाता एवं सर्वात्मा हैं। उनके लीला-रसका, जिनकी तृष्णाकी प्यास सदाके लिए बुझ चुकी है, वे जीवन-मुक्त पुरुषतो पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर, पान किया ही करते हैं, परन्तु जो लोग भव-रोगसे पीड़ित हैं, जो जन्म-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश- अपयश, प्रिय मिलन-वियोग आदि द्वन्द्वोंसे छूटना चाहते हैं, मुमुक्षु हैं, उनके लिए भी श्रीमद्भागवत राम-बाण औषध है। जिन्हें संसारका भोग प्रिय लगता है, जो तृष्णाकी आगसे झुलसे हुए हैं, ऐसे विषयी लोगोंके कान और मनको परम आह्लाद देने वाली श्रीकृष्णचन्द्रकी सुन्दर, सुखद, रसीली लीला है। ऐसे रस से, कौन होगा जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे ?

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरन्तर तेऊ।
भवसागर चह पार जो पावा: राम कथा ता-कहँ दृढ़ नावा।
संसृति रोग संजीवन मूरी। राम कथा गावहिं श्रुति सूरी।
विषइन्ह कहँ पुनि हरि गुण ग्रामा। श्रवण सुखद अरु मन अभिरामा।
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिनहिं न रघुपति चरित सुहाती।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवल्लीला रसपानके वे सब अधिकारी हैं, जिन्हें उस रसमें रुचि मालूम होती है, जिन्हें सत्सङ्गति अच्छी लगती है—

रामकथा कहँ तेइ अधिकारी। जा कहँ सत्संगति अति प्यारी।

यह भागवतामृत उनके लिए अवश्य ही अगम है—

जे श्रद्धा सम्बल रहित नहिं संतन कर साथ।
तिन कहँ मानस अगम अति जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

श्रीमद्भागवत् महिमा वर्णन प्रसङ्गमें कहा गया है—

हरिलीलाकथा व्रातामृतानन्दित सत् सुरम् (१२।१३।११)

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ अमृत स्वरूप हैं। उनके सेवनसे जो संत आत्मा-परमात्मा श्रीकृष्णमें ही रमण करते हैं, उन्हें बड़ा ही आनन्द मिलता है। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तुरीयपुरुषार्थ-मोक्ष प्राप्त होने पर भी श्रीमद्भागवत रूपी रस त्याज्य नहीं है, अपितु सेवनीय ही है।

क्योंजी 'पिबत भागवतं रसमालयम्' यहाँ पर श्रृणुतया कथय क्रियापद देनेसे भी पाद-पूर्ति सम्भव थी। फिर भागवत तो शब्दात्मक ग्रन्थ है। इस का विशेषण अमृतद्रवसंयुतम्, रसम् दिया गया है। और जिन्हें भागवत रसपानके लिए आह्वान किया गया है, उन्हें रसिका: भावुका: पदसे सम्बोधित किया गया है, इसका क्या रहस्य है ? 'यहाँ 'शुकमुखात्' हेतुमें पञ्चमी है। इसका अर्थ है—

शुकः मुखः अग्रेसरः यस्यसंत-जनस्य तस्मात् जातौ एकवचनम् ।'येषामहं प्रिय आत्मा'—इत्यादि भगवयुक्तिके अनुसार भगवान्‌का अवतार शुकादि जैसे भक्तोंके लिए ही होता है—

तुम सारीखे संत प्रिय मोरे । धरौं देह नहिं आन निहोरे।

जगदाधार श्रीकृष्णका व्रजभूमिमें प्राकट्य अपने अनन्य प्रेमियोंको स्वस्वरूपात्मक रस वितरणके लिए हुआ ? नहीं-नहीं, यहाँ 'पिबत' कहकर गोपीजनोंमें अनुगत रागानुगाख्या भक्तिका निर्देश है। प्रातः स्मरणीया प्रेमस्वरूपा गोप-बालाओंको इतर राग विस्मारक निर-तिशय आनन्ददायक प्रेमामृत पान करानेके लिए ही, परात्पर, पूर्णतम, सच्चिदानन्दघन, नन्दनन्दन श्रीकृष्णका व्रजमें प्रादुर्भाव हुआ। अनुरागमयी गोपियाँ विरह-गीत (गोपी-गीत) गाती हुई कहती हैं—

सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥(१०-३१-१४)

वीरशिरोमणे! तुम्हारा प्रेमामृत, मिलनके सुखको, आकांक्षाको बढ़ाने वाला है। वह विरहजन्य समस्त शोक-सन्तापको नष्ट कर देता है। यह गाने वाली बाँसुरी भलीभांति उसका पान करती रहती है। जिन्होंने उसे एक बार पी लिया, उन्हें फिर दूसरोंका और दूसरोंकी आसक्तियोंका स्मरण भी नहीं होता। हमारे वीर! अपना वही प्रेमामृत हमें वितरण करो, पिलाओ। 'अधरसिधुनाऽऽप्याययस्व नः।' मेरे प्रियतम! अब तुम अपना दिव्य, अमृतसे भी मधुर प्रेम-रस पिलाकर हमें जीवन-दान दो।

गोपियाँ श्रीकृष्णके प्रेम रसपानके लिए कितनी व्याकुल थीं, इसे कौन बतला सकता है? स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी तो-गोपाङ्गनाओंके परम दिव्य मिलनके लिए अत्यन्त उत्कंठित रहा करते हैं। 'रचयति शयनं सचकित नयनं पश्यति तव पन्थानम्।' अनेकानेक मधुर लीलायें कर उन्हें रिझाया करते हैं। इसीलिए तो व्रजवासियोंके सौभाग्य पर रीझ कर ब्रह्मा-जी भावावेशमें कहते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नंदगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥

नन्दगोपके व्रज में रहने वालोंके भाग्यकी महिमा कौन कह सकता है, जिनके प्रेमवश सनातन, सम, ब्रह्मभी स्वभाव, साम्य परित्याग कर मित्र बन गया। न्यायरत्नाकरकारका कहना है—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमेषु नितान्त खेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना—
मुपनिषदर्थं मूलूखलेनिबद्धम् ॥

हे वेदरूपी वनमें भूले भटके थके पथिको ! यदि तुम वेद-वेदान्तके वास्तविक तत्त्वको जानना चाहते हो, तो व्रजवल्लभाओंके घरोंमें जाओ, जहाँ वह ऊखल में बँधा हुआ तुम्हें मिल जायेगा । कोई-कोई तो यहाँ तक कह डालते हैं—

श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिन्मः ।
आहृतं पुरैव नयनैराभीरीभिः परब्रह्म ॥

'अब हम श्रुतियोंमें क्या ढूंढ़ें ? वे तो पुआलके समान निस्सार हैं । क्योंकि वेदके परम तत्व ब्रह्मको तो व्रजकी अहीरिनियोंने पहिले ही अपने नेत्रों से ढूंढ़कर निकाल लिया है ।' मुनिजन-अगम, करुणासिंधु प्रेमसुलभ श्रीकृष्णका प्रेमामृत-पान करनेके लिए लालायित शत-सहस्र श्रुतियाँ गोपी होकर व्रजभूमिमें अवतरित हुई ।

इन संपूर्ण भावोंको हृदयङ्गम कर आश्चर्यचकितसे व्यासजी कहते हैं—

'अहो ! निगमकल्पतरोः फलं भुविगलितम् ।'

वेद-वृक्षका परिपक्व फल पृथ्वी में सुलभ ? कैसा अलभ्य लाभ है । अतः (भगवतः अयं=अधरामृतरसः भागवतः तम्) भागवतं रसं मुहुः पिबत । आ-लयम्—यहाँ आङ् उपसर्ग लीश्लेषणे धातु है । भगवान् श्रीकृष्णका रसपान, मिलनमें भी अधिकाधिक प्यास विवर्धक है । इसीलिए श्रीकृष्णद्वैपायन कहते हैं—मुहुः पिबत । इस अनश्वर अमृतको, जिसका पान उत्तरोत्तर पीनेकी अभिलाषा जागृत करता है, बार-बार पान करो । 'पिबत भागवतं रसमालयम्' इस प्रकार श्रीकृष्ण माधुरीमें, सभी शब्द अपने अर्थको कहकर लीन हो जाते हैं, सार्थक हो जाते हैं । क्योंकि भागवत धर्म प्रतिपादक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ, भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनकी दिव्य लीलाएँ—यह सभी अभिन्न हैं, मधुर रस रूप हैं—

'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।'

श्रीकृष्ण वचनामृत

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

हे भारत, जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥

मैं साधु पुरुषोंका उद्धार, दूषित कर्म करने वालोंका विनाश तथा धर्म-स्थापन करनेके लिए युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

इसलिए अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है । इस प्रकार जो पुरुष मुझे तत्व से जानता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, मुझको प्राप्त कर लेता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता

"भगवान् श्रीकृष्ण भगवत्ता, और मानवताके सुन्दर सम्मिश्रण हैं। उनमें मानवताका पूर्ण विकास है और परमात्माका पूर्ण प्रकाश। भगवान् और मनुष्यका, नारायण और नरका, ईश्वर और जीवका भेद यहाँ तिरोहित होगया है।"

श्रीकृष्णके पाद-पद्मों पर

डा० श्रीहरिनंदन पाण्डेय

जन्माष्टमी प्रतिवर्ष आती है। हजारों वर्ष बीत गये, सदियों पर सदियाँ चली गयीं। परन्तु आज भी जन्माष्टमीका पुनीत पर्व उसी उत्साह, उसी श्रद्धाके साथ मनाया जाता है। आखिर क्यों? उत्तर सरल है और वह यह है कि यह मानवीय महानताकी उपासना है। यह पर्व सत्य द्वारा असत्य पर विजय, न्याय द्वारा अन्यायका समूल नाश तथा आशा एवं दिव्य जीवनका पुनीत सन्देश प्रदान करता है।

योगिराज श्रीकृष्ण इस धरा-धाम पर जिस समय अवतरित हुए, उस समय भारतवर्ष ही नहीं, अपितु सारे संसारमें अन्याय, द्वेष, पाखण्ड आदिका प्राबल्य था। धर्मका ह्रास हो रहा था। पापकी अमावस्याकी काली चादर पृथ्वी पर फैलती जारही थी। धर्मात्माओं, विधवाओं, निर्बलों, अनाथों और निर्दोष बच्चोंके करुण चीत्कारसे वायुमण्डल फटा जारहा था। सर्वत्र पापका प्रचण्ड साम्राज्य छाया हुआ था। उस समय एक ही कंस नहीं, बल्कि कई कंस थे। अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस कथनको प्रमाणित करनेके लिए, "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥" अवतरित हुए।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे। मानव रूपमें अवतरित होते हुए भी वे दिव्यता और अलौकिकतासे परिपूर्ण थे। इस कथनमें श्रीमद्भागवतके उस श्लोकका भावार्थ लिया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि 'जब भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलदेवजीके साथ कंसकी सभामें पहुँचे, तो शारीरिक बलसे युक्त दम्भी पहलवानोंने देखा कि व्योमसे एक भीषण वज्रने, मानो मूर्ति धारण करके पृथ्वी पर आकर उनके बलको स्तम्भित कर दिया है। जन-साधारणके लिए भगवान् परमब्रह्म प्रतीत हुए, रसमती नारियोंने देखा कि प्रेम और माधुर्य का देवता—कोमल, मधुर, सुन्दर और दिव्य रूप धारण कर उनके हृदयमें प्रवेश कर रहा है। निरीह, दुर्बल, कृषक, श्रमिक और पशु-पालकोंने देखा कि यह सर्व गुण सम्पन्न नर-रत्न हमारे सुख-दुःखका भागी है, अपना जन है। जन-समाजके ऊपर राजशक्ति परिचालनका दुर्लभ अधिकार प्राप्त कर जिन्होंने उस अधिकारका दुरुपयोग किया था, जिन्होंने

बहु-जनकी सेवाका अधिकार प्राप्त कर अपनी ही इन्द्रियोंकी सेवा एवं विलास-व्यसनमें अपनी शक्ति और ऐश्वर्यका प्रयोग किया था तथा दुर्बल जनताके ऊपर अत्याचार किया था, उन्होंने भयभीत होकर देखा कि ऊर्ध्व लोकसे मानो कोई ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न शासन-कर्त्ता हम पर शासन करनेके लिए पृथ्वी पर आया है और अपने अद्‌भुत तेजसे हमें अभिभूत कर रहा है। जिस मूर्तिको देखकर आसुरी प्रकृति वाले राज-पुरुष और मल्ल-युद्ध विशारदगण भयातुर हो उठे, दूसरी ओर वही मूर्ति वात्सल्यपूर्ण हृदय (माता-पिता) की दृष्टिमें गोदके एक सुकोमल शिशुके रूपमें दृष्टिगोचर हुई। कंसके लिए तो वह मूर्ति साक्षात् मृत्यु-सी प्रतीत हुई। अन्योंके लिए साक्षात् परमात्मा परिलक्षित हुई।

इस भाँति हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण भगवत्ता और मानवताके सुन्दर सम्मिश्रण हैं। उनमें मानवताका पूर्ण विकास है और परमात्माका पूर्ण प्रकाश। भगवान् और मनुष्यका, नारायण और नरका, ईश्वर और जीवका भेद यहाँ तिरोहित होगया है। मानव रूपमें इन्हें सभी कर्म करने पड़ते हैं। परन्तु किसी भावके प्रति आसक्ति नहीं है। सारांश यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण योगी होते हुए भी महायोगी हैं। त्यागियोंके लिए महात्यागी हैं, ज्ञानियोंके लिए महाज्ञानी तथा कर्मियोंके लिए महाकर्मी हैं। किसीके प्रति कोई आसक्ति न रख, सभीके साथ विहार करते हैं, सभीके प्रति इनका निष्काम प्रेम है। इस भाँति योगिराज श्रीकृष्ण असीम प्राणके आदर्श हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण जीवन वृत्त पर ध्यान देनेसे हमें उनके दो रूप दीख पड़ते हैं—एक राजनीतिज्ञ कृष्ण और दूसरा तत्ववेत्ता कृष्ण। राजनीतिज्ञ कृष्णने अपनी राजनीति द्वारा पापियोंका नाश कर धर्मकी स्थापनाकी और तत्ववेत्ताके रूपमें समस्त कार्योंका सम्पादन करते हुए भी आप समस्त कार्योंसे अनासक्त रहे। सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, यश-अपयशका उनके हृदयमें ख्याल भी नहीं रहता था। निर्भय तथा निष्काम होकर कार्य करना ही आपके दिव्य जीवनका सन्देश है। उनका तो यही उपदेश था

'कर्मण्येबाधिकारस्तेतु, मा फलेषु कदाचन।'

इन्हीं दिव्य सन्देशोंसे परिपूर्ण ग्रन्थ-रत्न 'श्रीमद्भगवद्‌गीता' आज भी असंख्य मानवोंका पथ-प्रदर्शन कर रही है। यह भारतका ही सौभाग्य है कि इसे गीता जैसी सुन्दर पुस्तक प्राप्त हुई। गीता—दर्शन और शास्त्रोंका सार है। यह हिन्दू-धर्मकी अन्तरात्मा है। यही कारण है कि विश्वके समस्त विद्वान् इसका सम्मान करते हैं। इसका एक-एक वचन वेद-मन्त्रके सदृश है। गीताके अठारहों अध्यायोंमें ज्ञान, कर्म, धर्मनीति तथा राजनीति कूट-कूट कर भरी है। इस छोटी-सी पुस्तकसे भगवान् श्रीकृष्णने सारे संसारको जो तत्वज्ञान दिया, वह विश्वकी किसी भी भाषामें उपलब्ध नहीं है।

गीताके सम्यक् अध्ययनसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि ज्ञान, कर्म और उपासनासे मुक्ति प्राप्त होती है। स्वयं लीलाधरकी समस्त लीलाओं पर दृष्टिपात करनेसे ज्ञात होता है कि आपका सम्पूर्ण जीवन कर्ममय था। 'कर्म

ही ब्रह्म है' यही इनका आदर्श था। भगवान् निष्काम कर्मकी महिमा बतलाते हुए अपना उदाहरण देते हैं :—

"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥"

अर्थात् तीनों लोकोंमें मेरे लिए कुछ भी 'कर्त्तव्य' न रहते हुए मैं कर्त्तव्य करता हूँ।

इस भाँति हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण कर्ममें इतने तल्लीन रहते थे कि जिसकी तुलना नहीं है। यह कितने सन्तापका विषय है कि हम भगवान्के इस दिव्य सन्देशको भुलाकर अकर्मण्य बन गये हैं? हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि हम मात्र गीताके बताये मार्ग पर ही चलनेका संकल्प करलें, तो निश्चय ही हमारा चतुर्दिक् विकास होकर रहेगा। यह हम भारतीयोंकी कृतघ्नता नहीं, तो क्या है कि आज हम योगीश्वर श्रीकृष्णके बताये मार्ग और उनके सन्देशोंको भूलते जारहे हैं। हमें तो पूर्ण विश्वास है कि एक दिन वह समय निश्चय ही आयेगा, जिस दिन आजका विज्ञान कोरा भौतिक न रहकर मनोविज्ञानमें परिणत हो जायगा और गीताका ज्ञान, मात्र दर्शन न रहकर प्रयोगात्मक विज्ञानका तथ्य माना जायगा। उस स्वर्ण-वेलामें 'श्रीकृष्णाष्टमी' केवल भारतमें ही नहीं, प्रत्युत् सारे संसारमें सादर एवं सोल्लास मनायी जायगी। साथ ही आशावादी एवं आस्तिक होनेके नाते हमें दृढ़ विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण एक दिन इस धरा-धाम पर अवश्य ही अवतार लेंगे, क्योंकि आज यहाँ छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, पापाचार आदिका जैसा प्रचण्ड साम्राज्य फैलता जारहा है, उनके निवारणार्थ उनका अवतरित होना ध्रुव सत्य है। क्योंकि स्वयं वह अपने श्री-मुखसे उद्घोपित कर चुके हैं :—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

तो आइये, इस पुनीत पर्व पर योगीश्वर श्रीकृष्णके पाद-पद्मों पर श्रद्धाके दो सुमन सादर समर्पित करते हुए प्रार्थना करें :—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीकृष्ण जन्म

गोकुल प्रगट भये हरि आइ।
अमर-उधारन असुर-संहारन, अंतरजामी त्रिभुवनराइ।
माथें धरि बसुदेव जु ल्याये, नन्द-महर-घर गए पहुँचाइ।
जागो महरि, पुत्र-मुख देख्यौ, पुलकि अंग उर में न समाइ।
गदगद कण्ठ, बोल नहिं आवै, हरषवन्त है नन्द बुलाइ।
आवहु कंत, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखो धाइ।
दौरि नंद गए, सुत-मुख देख्यौ, सो सुख मोपै बरनि न जाइ।
सूरदास पहिलें ही माँग्यौ, दूध-पियावन जसुमति माइ।

"स्वामी वल्लभाचार्यजीसे तत्कालीन सभी लोग प्रभावित हुए। इनकी आराधना-पद्धतिका हिन्दू जन-जीवन पर ही नहीं, प्रत्युत् मुसलमानोंपर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस कालमें कई मुस्लिम-भक्त कवि हुए, जिन्होंने वल्लभ-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहणकर लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी आराधनाके गीत गाकर हिन्दी-साहित्यको अमूल्यनिधि अर्पित की।"

परधर्मावलम्बियों द्वारा श्रीकृष्णकी आराधना

डा० मधुकरभट्ट पी० एच० डी०

विक्रमकी १५वीं और १६वीं शताब्दीमें वैष्णव-धर्मका जो आन्दोलन देशके एक छोरसे दूसरे छोर तक फैला, महाप्रभु वल्लभाचार्य उसके प्रधान प्रवर्त्तकोंमें से थे। महाप्रभु वल्लभाचार्यने ब्रह्मको सभी सामान्य धर्मोंसे युक्त माना। सम्पूर्ण सृष्टिको उन्होंने लीलार्थ ब्रह्मकी आत्म कृति स्वीकार करते हुए सगुण ब्रह्मके कृष्णरूपकी आराधना पर बल दिया। उन्होंने यह भी बताया कि सर्वगुण सम्पन्न श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं और उनकी सभी लीलाएँ नित्य हैं। वल्लभाचार्यजीसे तत्कालीन सभी लोग प्रभावित हुए। इनकी आराधना-पद्धतिका हिन्दू जन-जीवन पर ही नहीं, प्रत्युत् मुसलमानों परभी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस कालमें अनेक मुस्लिम भक्त-कवि हुए, जिन्होंने वल्लभ-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहणकर लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी आराधनाके गीत गाकर हिन्दी-साहित्य को अमूल्य निधि अर्पित की। इन मुस्लिम भक्तकवियोंके पद आज भी भारतीय जन-जीवनको भक्तिके रसमें सराबोर करते रहते हैं।

रसखान—परधर्मावलम्बी भक्तकवियोंमें हमारे सम्मुख सर्वप्रथम भक्त-शिरोमणि रसखानका नाम आता है। रसखानका महत्व आज इसलिए अधिक है कि उन्होंने मुसलमान होकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उत्कट भक्तिकी है। इनका जीवन-काल वि० सं० १६३० से १६९० माना जाता है। इनकी भक्ति-विषयक पाँच काव्य-रचनायें मिलती हैं—

(१) सुजान-रसखान (२) दान-लीला (३) प्रेम-वाटिका (४) एक प्रकीर्णक और (५) अष्टयाम।

'सुजान-रसखान'में रसखानने भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी अनेक लीलाओंका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। इसके कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे सब मिलाकर २१४ पद हैं।

१६ पद भक्ति एवं आराधना, २ बाल-लीला, ५ गोचारण, १ चीर-हरण, ४ कुंज-लीला, २ पनघट-लीला, ७ दान-लीला, १ वन-लीला, १ गोरस-लीला, ३ राधा-रूप छटा, ३ वयः सन्धि, १६ वंशी, १४ पूर्वराग, ६ अभिलाष, ४ प्रेम-माधुरी और ८ होली विषयक पद बहुत अच्छे हैं।

'दान-लीला'में ग्यारह कवित्त सवैयोंमें कृष्ण और राधिकाका सरस श्रृंगारिक सम्वाद है। कृष्णका छेड़ना और दधि-माखन मांगना, राधाका नटना, कृष्णकी पराजय और राधाकी उक्तिका एक चित्र प्रस्तुत है—

'नौ लख गाय सुनी हम नंदके, तापर दूध दही न अघाने।
माँगत भीख फिरौ बन ही बन, झूठि ही बातन के मनमाने।
औरनकी नारिनके मुख जोवत, लाज गहौ कुछ होत सयाने।
जाहु भले जु, भले घर जाउ, चलै बस जाहु वृन्दावन जाने॥'

रसखानका 'प्रेम-वाटिका' काव्य-ग्रन्थ उनकी कृष्णके प्रति प्रगाढ़ भक्तिका परिचायक है। कृष्ण और राधा ही रसखानकी प्रेम-वाटिकाके माली-मालिन हैं। प्रेमकी इस वाटिकामें एक बार जो पहुँच गया, फिर कहीं जानेकी सुधि नहीं। प्रेमानन्द ब्रह्मानन्दके समान है।

'एक प्रकीर्णक' कविका चतुर्थ काव्य ग्रन्थ है। इसमें सारंग रागका धमार है, जिसमें होलीके रास-रंग और प्रेमपूर्ण गालियोंका वर्णन है।

'अष्टयाम' शीर्षक रचनामें बालकृष्णके दैनिक जीवनका चित्ताकर्षक वर्णन है। कविने बाल-लीला वर्णनमें अपूर्व सफलता प्राप्तकी है। अन्तमें कुछ भक्ति-विषयक पद भी हैं।

लौकिक प्रेमसे होते हुए रसखान प्रेमके जिस असीम राज्यमें पहुँचे, उस शान्ति-लोकमें साहचर्य-समीप्यकी सुखानुभूति सरल तथा गम्भीर है। कविका कृष्ण छछिया भर छाछ पर नाचकर अहीरकी छोहरियोंको प्रसन्न करने वाला शेष, महेश, गनेश आदिका ध्यातव्य भी है—

'सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥'

कविका कथन है जो कृष्ण वृन्दावनके कुंजोंमें छिपकर राधाके पाँव पलोटता है, वही वेद,पुराण,उपनिषदोंमें भी व्याप्त है—

'ब्रह्ममैं ढूंढ्यौ पुरानन गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ दुर्यौ वह कुंज कुटीरमें, बैठि पलोटत राधिका पायन॥'

सौन्दर्योपासक रसखानके हृदयमें कृष्ण स्वभावतः बैठ जाते हैं और मुरलीकी धुनसे अङ्ग-अङ्ग पुलकित कर देते हैं।

अन्य भक्तकवियोंकी तरह रसखानने भी कृष्णका बाल-लीला वर्णन किया है। बाल कृष्णकी सजीव कल्पना देखिए—

'धूरि भरे अति सोभित स्याम जु तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अंगना पग, पैंजनी बाजत पीरी कछोटी।'

रसखानकी भक्ति और आराधनाका चरमोत्कर्ष हमें वहाँ दिखायी पड़ता है, जहाँ वे कृष्णमय हो जानेके लिए आकुल हैं। उनको अपने प्रियतमकी प्रत्येक वस्तु प्यारी है। यहाँ तक कि अगले जन्ममें कृष्णके और समीप आनेके लिए आराधना करते हैं—

'मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी कूल कदम्बको डारन॥'

रहीम—रसखानके पश्चात् मुसलमान कृष्ण-भक्त कवियोंमें रहीमका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अब्दुर्रहीम खानखानाका जन्म सम्वत् १६१० वि० में हुआ था। आप बड़े ही सहृदय, गुणग्राही और दानी थे। रहीम सगुण भक्तिमार्गी थे। वे कृष्ण भगवान्‌के लीला-मय रूपसे अधिक प्रभावित थे और स्थान-स्थानपर दोहा, बरवै, गीत आदि पद-रचनाओं द्वारा इन्होंने श्रीकृष्णके रूपका चित्रण किया है। कृष्णकन्हैयाकी मोहिनी मूरत तो उनके चित्तमें ही बस गयी थी। 'कमल दल नैननि के उनमानि' का अनुभव करते हुए कह उठते हैं—

'अनुदिन श्री बृंदावन ब्रज तें, आवन आवन जानि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है, सकल स्याम की बानि।'

रहीम कवि श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर अपने चकोर रूपी मनको लगानेका बोध देते हुए कहते हैं—

'तैं रहीम मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसि-बासर लाग्यो रहै, कृष्णचन्द्र की ओर॥'

रहीम विष्णुके दोनों ही रूपों—राम और कृष्णके उपासक थे। रामका ध्यान करने के उद्देश्यसे हनुमान और रामकी वन्दना करते हुए कहा है—

'ध्यावहु विपद विदारन, सुवन-समीर।
खल-दानव बन जारन, प्रिय रघुवीर॥'

पर उपासना और आराधनाकी दृष्टिसे रहीम श्रीकृष्णकी ओर विशेष आकृष्ट थे। कृष्ण-भक्ति-विषयक उनकी रचना बड़ी मार्मिक और चित्ताकर्षक है।

कादिर—भक्त-कवि कादिरका जन्म सं० १६६० में हुआ था। ये हरदोई जिलेके पिहानी नामक स्थानके निवासी थे। इनका कोई पूर्ण ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं है, पर कृष्ण-भक्ति विषयक कुछ स्फुट पद अवश्य मिलते हैं। इनकी भाषा सरल, सरस और स्वाभाविक है। पदोंमें आराध्यके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना है।

मुबारक—भक्तकवि मुबारकने जहाँ एक ओर कृष्ण-भक्ति विषयक पदोंकी रचना की है, वहीं दूसरी ओर नखशिख वर्णन सम्बन्धी रचना कर शृङ्गारी कवियोंमें भी अपना

स्थान बना लिया है। इनका रचनाकाल सं० १६७० माना जाता है। आपने कृष्णकी रास-क्रीड़ाओंका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। ये अपनी वर्णनात्मकता और कल्पनाके लिए प्रसिद्ध हैं। कविता सरस और भावपूर्ण है। स्फुट भक्ति-विषयक पदोंके अतिरिक्त इनके दो काव्य-ग्रन्थ—'अलकशतक' और 'तिलशतक' भी प्राप्त हैं।

पारसी कवि रुस्तम इरानी—इस मुस्लिम कविका रचना-काल १८३९ से १८९२ ई० (सं० १८९५–१९४८) निश्चित है। इन्होंने कृष्ण-भक्तिके पदोंका मुक्त कण्ठसे गान किया है। यह गुजरातके प्रसिद्ध भक्त कवि नर्मदाशंकरके मित्र थे। इन्होंने अपने आराध्यके समक्ष गोपी की भूमिका का निर्वाह किया है। कविका एक होरी पद देखने योग्य है—

'अंग भइ गुलाल, सखी री ! पनीआँ भरन गएनो,
जाती थी लटक मदन······भए बिंदराविन कुं-फंग़ावत कन्हइयालाल।'

संत हुसेनखाँ—गुजरात निवासी सन्त हुसेनखाँ सन्त दीन दरवेशके शिष्य थे। मुसलमान होते हुए भी कृष्णके अनन्य भक्त थे। इनके कृष्ण-भक्ति-विषयक बहुतसे पद मिलते हैं। कविने श्रीकृष्णचन्द्रके विविध नामोंके बारबार स्मरणके साथ प्रभु-दर्शनकी कामना व्यक्त की है। कविका भक्तिभाव बड़े ही सरस, मधुर और सरल शब्दोंमें व्यक्त हुआ है। कविका पद पढ़कर हिन्दी-कवि रसखानका स्मरण हो आता है। इनकी आराधना उच्चकोटिकी है। कवि कहता है—

'बालमुकुंदा माधवा, केसव कृष्ण मुरार।
यवन उधारन आइये, निलंज नंद-कुमार ॥
निलंज नंद-कुमार, नाथ छोड़ो निठुराई ॥
दूध दही-घृत खाय, यादव तेरी चतुराई ॥
'हुसेन' तेरा हो गया, गिरिधर गोविन्दा।
केसव कृष्ण मुरार, माधवा बालमुकुन्दा ॥'

संत बाबा नबी—भक्त बाबा नबीभी संत दीन दरवेशके शिष्य हैं। हिन्दू धर्म और तत्वज्ञानके ज्ञाता थे। हिन्दू-भक्त कवियोंका भी इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कृष्णके अनन्य भक्त और भगवद्भक्तिमें लीन इस कविने बहुतसे कृष्ण-भक्ति रस पूर्ण पदोंकी रचना की है। एक पद देखिए—

'मैं जानूं हरि अधम उधारन, पतित उधारन स्वामी रे।
भक्त वत्सल धर जी रे, है एक नाम बहुनामी रे ॥
प्रथम भक्त प्रहलाद उबारे, ध्रुव को अमरपद दीन्हा रे।
सुदामा के सब संकट टारे, हँस-हँस तांदुल लीन्हा रे ॥
पांचाली को चीर बढ़ायो, पांडव लिये उबारी रे।

कौरव कुल को आप विदारे, अर्जुन को रथ धारी रे ॥

× × ×

'दास नवी' को शरणेराख्यो, डूबत नैया तारी रे ॥

संत कवि फाजल—बावा फाजलजी भी दीनदरवेशके शिष्य थे। कृष्ण-भक्त मुस्लिम कवियोंमें फाजलका अन्यतम स्थान है। इन्होंने कृष्णभक्ति से सम्बन्धित कई पदोंकी रचना की है। संत कवि प्रभुसे अपनेको प्रभुके चरणोंमें समर्पित करते हुए प्रार्थना करते हैं—

'यदुपति कृष्ण मुरार, मोह विदारिये।
लंपट मन की चाल, चिदानंद बारिये॥
नैया बहै मँझधार, खेवैया—तारिये।
फाजल अपनी जान, हरी उबारिये॥

उक्त पदमें कृष्ण-भक्तिका सच्चा दैन्य भाव और आत्मसमर्पणकी भावनाका उत्कृष्ट स्वरूप चित्रित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस भारत-भूमि पर कृष्ण-भक्ति आन्दोलनका प्रभाव हिंदू जनता पर ही नहीं, प्रत्युत् उससे मुस्लिम जन जीवन भी प्रभावित हुआ और फलस्वरूप कृष्ण आराधनामें प्रवृत्त हुआ। उक्त कृष्ण भक्त कवियोंके अतिरिक्त अन्य भी बहुतसे कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने आपको लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित किया और उच्चकोटिकी कृष्ण-आराधनाका दृष्टान्त प्रस्तुत किया।

हरि भज माया तिमिर हरम्

कारागृह का अन्धकारमय आलोकित कर निभृत कुटीर।
शतशत चन्द्र सुधा परि वर्षी अञ्जन मञ्जुल विमल शरीर॥
जन्मकाल में ही करुणाकर अविकल भयहर अकल; अनूप।
शंख चक्र कर महापद्मधर प्रकटित अनुपम वैष्णव रूप॥१॥
रागद्वेषरहित मर्यादित जिसका पलपल का व्यापार।
था न कभी निजके हित होता उत्पादन संहार विहार॥
जीवों का उद्धार लक्ष्य था शोषित कर अद्भुत भवकूप।
गोपयुवतिगण हृदय मनोहर निजजन मानस अविचल भूप॥२॥
जिसने किया समस्त धनों में उत्तम गोधक का सम्मान।
युद्धस्थल में अर्जुन के मिस दिया विश्वको गीता ज्ञान॥
भज पद पङ्कज उसके पामर जिसका है न कहीं प्रतिरूप।
जिसके सभी कर्म होते थे जनता के हितके अनुरूप॥३॥

पं० काशीनाथ शर्मा द्विवेदी
'सुधीसुधानिधि'

“तंत्र-साधना वस्तुतः वीराचारकी साधना है, जिसमें साधक भगवती शक्तिके सहारे साधन पथके समस्त विघ्नों एवं बाधाओंको, सिर पर पैर रखकर अपने उद्देश्यकी संसिद्धिमें प्राणपणसे लगा रहता है। वीरभाव ही वास्तविक तंत्र-साधनाका मूल भाव है—दिव्य भावमें सतोगुणकी और पशु-भावमें तमोगुणकी प्रधानता है, परंतु वीर-भावमें रजोगुणकी प्रधानता होनेसे वह सक्रिय है, धैर्य और साहसका प्रयोग-क्षेत्र है।”

तन्त्र-साधना

डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र ‘माधव’

तंत्र भारतीय जीवन, संस्कृति और साधनाका प्रयोगपक्ष है, जिसे भ्रमवश अधिकांश विद्वानोंने और तो और विन्टरनीज जैसे महापण्डितने भी शाक्तोंका साहित्य मान लिया है। तन्त्रका प्रयोगात्मक प्राधान्य वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य आदि सभी साधना-प्रणालियोंमें है और सच तो यह है कि तन्त्रके बिना साधनाका ककहरा भी नहीं खुलता। वैज्ञानिक सत्यों और सिद्धान्तोंका जिस प्रकार प्रयोगशालामें परीक्षण-निरीक्षण हो चुकनेके बाद ही उनकी सत्यता पर मुहर लगती है, उसी प्रकार तन्त्रकी कसौटी पर कसे जानेके पश्चात् ही साधनाकी युक्तियुक्तता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। तन्त्रके सम्बन्धमें फैली हुई अनर्गल अप्रामाणिक किंवन्दन्तियोंके कारण इसके प्रति जन-साधारणमें अनास्था या अनादरका भाव परिव्याप्त है और इसे तन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूँक, ओझा-डायनका पर्यायवाची मान कर तांत्रिक शब्दके प्रति कुत्साका भाव जुड़ गया है। तन्त्रके प्रति उपेक्षाका यह भाव हमारे अज्ञानका द्योतक है और है सर्वथा अक्षम्य।

प्राचीनता और व्यापकताकी दृष्टिसे वेदोंके बाद तन्त्रोंका ही स्थान है। यह कहना अनुचित अथवा अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धोंके बहुत पहलेसे इस देशमें तन्त्रोंका प्रभाव जम चुका था। भगवान् शंकराचार्यने जहाँ-जहाँ मठ स्थापित किये, वहाँ-वहाँ भी साधनाके मूलाधारके रूपमें तन्त्रोंकी प्रमुखता अक्षुण्ण है। और कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृतिकी आध्यात्मिक साधनाके मूल प्राण-रूपमें तन्त्र अनादि कालसे किसी न किसी रूपमें चले आ रहे हैं। वैदिक संस्कृतिकी आचारमूलक परम्पराका शनैः शनैः ह्रास होता गया है। यद्यपि औपनिषदिक साधना एवं विचारधाराके प्रति आस्था बढ़ी है।

दर्शन, ज्ञानविज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान, कामविज्ञान, मनोविश्लेषण, तत्वज्ञान, आत्माभिसूचन, औषधि रसायन, दूरदर्शन, दूरस्वन, अर्थात् जीवनके प्रायः सभी आवश्यक

अनिवार्य विषयोंको लेकर तन्त्रमें अपार साहित्य विद्यमान है—इस प्रकार तन्त्रको ज्ञान-विज्ञानका विश्व-कोष कहा जाना चाहिए। तन्त्र निराधार हवाई उड़ान नहीं भरा करते, यद्यपि वे प्रयोगके क्षेत्रमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकोंमें सहज भावसे विचरण करते हैं और साधकको लोक-लोकान्तरोंका दर्शन कराते हुए लोकातीत अद्वय स्थितिमें प्रवेश करा देते हैं। तन्त्र चिन्तनका आश्रय नहीं लेते, वे प्रयोग और अनुभवके सहारे मानवमनको ऊँचेसे ऊँचे और गहरेसे गहरेमें पहुँचा कर उस स्थितिमें प्रवेश करा देते हैं, जिसमें तत्वज्ञान चिन्तनके सहारे पहुँचाना चाहता है। एकका मार्ग अनुभवका है, दूसरेका चिन्तनका। तन्त्रमें कल्पना या अनुमानका कोई स्थान नहीं है—वहाँ प्रयोग और अनुभवकी सीढ़ियोंसे साधक सिद्धिके शिखर पर पहुँचता है, अपने आपको उद्घाटित करता हुआ, खोलता हुआ, अपने पिण्डके भीतर ही ब्रह्माण्डके विविध स्तरों, लोक-लोकान्तरोंका दर्शन करता हुआ वह उस स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँ शिव और शक्तिका पूर्ण सामरस्य है। सत्य जीवनमें अनुभवका विषय है, सहज चिन्तनका नहीं—तन्त्रोंकी यही मान्यता है।

इसी दृष्टिसे तन्त्रका निजत्व है, वैशिष्ट्य है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, तन्त्रका अभिप्राय है जीवनकी कला, अध्यात्मकी प्रयोगात्मक व्यावहारिक सौन्दर्यानुभूति। रहस्यके लोकमें भी तन्त्र प्रकाश लेकर चलता है—वह कभी रहस्यकी रहस्यमयतासे अभिभूत या परास्त होना नहीं जानता। जीवन और जगत्को खोल-खोलकर देखनेका अर्थ है, जीवन और जगत्की समस्त सम्भावना, सम्भावनाओंको स्वीकार करके चलना और उन्हें अपनी आँखों देखना, अपने अनुभवसे परखना। परिकल्पना या हाइपोथेसिस तन्त्रमें है नहीं। जीवन और जगत्में आध्यात्मिक आनन्दकी उपलब्धि एवं उपभोगके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जीवन और जगत्के प्रत्येक तत्वको अधिकृत कर हम उसे अपने अधीन लावें और व्यावहारिक दृष्टिसे उस पर अपना शासन स्थापित करें। तन्त्रका यही प्रयोगात्मक-प्रैगमैटिक पक्ष है। प्राकृतिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका पोषण और दोहन तन्त्र द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार तन्त्र पूर्ण जीवनके उच्चतम विकासका सहज साधक है।

लक्ष्यको लेकर तन्त्र और उपनिषदोंमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही तत्वमसिका प्रतिपादन करते हैं। शिव और शक्तिकी अभिन्नताके द्वारा तन्त्र भी हमें उसी अद्वय अवस्थामें पहुँचा देते, जिसमें उपनिषद् आत्मा-परमात्माकी एकता द्वारा पहुँचाते हैं। कुलार्णव तन्त्रमें द्वैताद्वैत विलक्षण स्थितिमें गगनोपम आनन्द-स्थितिका जो उल्लेख है, वह उपनिषदोंकी ब्रह्माकार कारित वृत्तिसे भिन्न नहीं है। जीवनकी कलाके रूपमें तन्त्र आत्मोद्घाटनकी प्रक्रिया मानते हैं—इस पिण्डके भीतर ही ब्रह्माण्डका सारा रहस्य, सारा तत्व, सारा दृश्य, सारा लोक-लोकान्तर समाया हुआ है—इस पिण्डके अन्दर ही काशी है, मथुरा है, अयोध्या और प्रयाग, बदरीनारायण और रामेश्वरम् है—इसके लिए बाहर भटकने या भरमनेकी आवश्यकता नहीं। तन्त्र व्यावहारिक विज्ञान है और आत्मज्ञानकी उपलब्धिके लिए वे कोरी कल्पनाका सहारा नहीं लेते—पुष्पकी एक-एक पंखुड़ीको भली-भाँति देखकर पूरे फूलका अनुभव लेते हैं। यही इनका वैशिष्ट्य है। उपनिषद्की भाँति तन्त्रभी 'जीवोब्रह्मैवनापरः' के सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं, परन्तु इस सिद्धान्तके व्यवहार पक्ष

पर तन्त्रका विशेष बल देते हैं। तंत्र जीवको पशुत्वसे उठाकर शिवत्वमें स्थापित करता है, सान्तसे मुक्त कर अनन्तमें प्रतिष्ठित करता है। तंत्र शक्तिका आधार लेते हैं, जो शिवसे अभिन्न है, परन्तु शिव शक्तिका अतिक्रमण करता है। शक्ति है गति, शिव है शान्ति। शिव शक्तिके विना शव है। परन्तु स्वतः शिव शान्त अद्वैत परमास्थिति है, इसीलिए शिवकी छाती पर शक्ति—स्थितिके ऊपर गति। स्थितिका आधार न हो तो गति हो कैसे सकती है? शिव अस्ति नास्ति से परे हैं—सदाशिव रूपमें—वही परात्पर सत्य हैं, कूटस्थ सत्य हैं। शक्ति शिवमें समाहित है, शिव शक्तिमें अधिष्ठित हैं—अतएव परस्पर पूरक हैं—अर्धनारीश्वर रूपमें। शक्तिके द्वारा शिव अपनेको विश्वमें अभिव्यक्त करते और पुनः शक्तिके द्वारा ही अपने आपमें विश्वको लय कर लेते हैं। सृष्टि और प्रलय उनकी डमरूके दोनों छोर हैं, जिन्हें एक साथ वे डिमडिमाते हैं।

शक्ति सृष्टि क्या है, शिवमें ही उसका निवास है। विश्वके नानाविध लीला-विलासमें शिव और शक्तिकी क्रीड़ा ही व्याप्त है और प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी (पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लतादि) में शिव और शक्तिका ही लीला-विलास चल रहा है। तंत्र हमारी इन्द्रियोंको उन्मुक्त कर इसी चेतना और आनन्दसे परिप्लुत कर देता है। प्रकृतिमें सर्वत्र अखण्ड भावसे जो नर और नारीका हाव-भाव-विलास खिलखिला रहा है, उसके मूलमें शिव और शक्तिकी लीला ही तो चरितार्थ हो रही है। वह व्याप्त भी है, परात्पर भी है—एक ही साथ इमानेंट भी है, ट्रांसेंडेंट भी है। कुछ भी उससे रहित नहीं है, परे नहीं है। वही शिव और शक्ति उपनिषद्की ईश्वर और माया है, पाश्चात्य दर्शनका बीइंग और बिकोमिंग है। यह विश्व स्वयं विश्वनाथका शरीर है, इसलिए यहाँ कुछ भी अशुभ, अप्रिय, अमंगल नहीं है, कुछ भी घोर नहीं है, क्योंकि अघोरका लीला स्थल है। यहाँ श्मशानका देवता भी साक्षात् शिव है। फिर भी शिव व्यक्ताव्यक्तसे अतीत है, क्योंकि परे हुए बिना लीलाका संचालन कैसे होगा और व्याप्त हुए बिना उसमें माधुर्य और सुषमाका सन्निवेश कैसे होगा? इसीलिए वह दोनों है, और दोनोंसे परे भी द्वन्द्व भी, द्वन्द्वातीत भी, चर-अचरमें व्याप्त भी, इनसे परे भी। उस परात्पर तत्वके संबंधमें तंत्र और वेदान्त एकमत हैं। तात्विक दृष्टिसे वह परात्पर है, परन्तु शास्त्र दृष्टिसे वही अपने नाना लीला-विलाससे सृष्टिमें क्रीड़ा कर रहा है। वह है—इतना ही नहीं, सब कुछ वही है, वह है—इसी ज्ञानवोध-को तंत्र विश्वके नाना रूपों, विलासों, क्रियाओं द्वारा चारितार्थ करता है—यही है तंत्रका विनियोग पक्ष।

शक्तिकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह सदा शिवकी आश्रित है। और जैसे शक्तिके बिना शिवकी सत्ता नहीं, वैसे ही शिवके बिना शक्तिका उल्लास नहीं। तंत्र हमारे मन और इन्द्रियोंको संस्कार-मुक्त कर परात्परकी ओर उन्मुक्त करता है—उसका मार्ग मनोवैज्ञानिक एवं ऐहिक है, जबकि वेदान्तका मार्ग चिन्तनका और आमुष्मिक है। अर्थात् जो चिन्तनके क्षेत्रमें वेदान्त है, विनियोगके क्षेत्रमें वही तंत्र है—तंत्र वेदान्तका प्रयोगात्मक रूप है। तंत्र किसीसे प्रदाय विशेषका द्योतक नहीं है—वह समस्त विविध आध्यात्मिक साधनाओंकी पृष्ठभूमि है। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य सभी आध्यात्मिक साधनाएँ तंत्रके आधार पर ही अधिष्ठित हैं और उसीसे प्रेरणा और शक्ति ग्रहण करती हैं।

तंत्रमें शिव और शक्तिकी प्रधानता इसलिए है कि तंत्र मानवजीवनके सभी स्तरों-शारीरिक, ऐन्द्रिय, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक आदि आदिको पूरी तरह भलीभांति, स्वीकार करता है और इनमेंसे एक-एकको खोल-खोलकर उसमें अध्यात्मका प्रकाश देता है, उसका उन्नयन-उन्मीलन करता है। तंत्र सब कुछ स्वीकार कर सकता है। वह मानवके सु और कु से अपरिचित नहीं रहना चाहता, वह दोनोंको ग्रहण करता है और इन्हें अध्यात्मकी ओर उन्मुख ही नहीं करता, प्रज्वलित और प्रतिभापित भी करता है। तंत्र हमें जीवनके प्रत्येक व्यापारमें, शरीरके प्रत्येक स्तरमें दिव्यता प्रदान करता है और देवंभूत्वा यजेदेवम्का भाव स्थापित करता है, जिसके परिणामस्वरूप हम स्वतः अनुभव करते हैं।

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्द रूपो स्मि नित्यमुक्त स्वभाववान्॥

इस निष्फल स्थितिमें पहुँचनेके पहले स-फल स्थितिकी सभी अवस्थाओंसे साधकको गुजरना ही पड़ता है। नान्या पंथा विद्यते यनाय। शक्तिकी लीला प्रायः तीन रूपोंमें देखनेको मिलती है—रचना, पालन, संहार, इन तीन रूपोंमें उसके नाम हैं ब्राह्मीशक्ति अथवा सरस्वती, लक्ष्मी और शिवानी। विकासकी प्रक्रिया भी इन्हींसे परिचालित होती है। सब कुछ उस आद्याशक्ति—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—महामहेश्वरीके आधार पर ही स्थित है और उसीके इशारे पर नाच रहा है—अन्ततः उसीकी गोदमें जाकर चिरनिद्रामें सो जाता है। शक्ति ही एकमात्र शाश्वत है, और कुछ भी नहीं। जैसे-जैसे हमारी प्रकृतिकी जड़ता झड़ती जाती है, वैसे-वैसे हम अपने अन्दर शक्तिके लीला-विहारका साक्षात्कार करने लगते हैं। क्योंकि यहाँ सब कुछ मांका खेल ही तो है। यहाँ जड़में भी तो चेतन सोया हुआ खेल रहा है। तमसके आधिक्यके कारण ही वह स्पष्ट दीखता नहीं।

साधकके जीवनमें साधनापथ पर अग्रसर होते समय भगवतीकी जो कृपा होती है, इसे तंत्र स्वीकार करता है। कृपाशक्ति ही मुख्य पूरक है। आध्यात्मिक जीवनमें यही आकर्षण-शक्ति है। सत्चित आनन्दके केन्द्रमें यही शक्ति नित्य क्रियाशील है, जो इच्छा और ज्ञानके रूपमें व्यक्त होती है। इच्छा है अनन्त, क्रिया है सान्त—इच्छा जब क्रियामें व्यक्त होती है, तभी स्थितिमें गति आती है—यही है आदि शक्ति महामायाका लीलाविलास। चित्ते-कृपा समरनिष्ठुरताका यही भाव है। जब जीव आकर्षणों-विकर्षणोंके बंधनसे मुक्त होकर साधन पथमें अग्रसर होता है, तो साक्षात् भगवती ही उसका हाथ सँभाले आगे लिये चलती हैं और वह इस कृपाशक्तिका निरंतर साक्षात्कार करता रहता है। संधानमें चलनेका अर्थ है भीतरी इच्छाकी प्रेरणा एवं उद्वेलना। यह प्रेरणा या उद्वेलन आद्या शक्तिका उद्-बोधन है। पीपीलका मार्ग और विहंगम मार्ग का यही रहस्य है—एकमें अपना प्रयास, दूसरेमें कृपाशक्तिका चमत्कार। कृपाशक्ति दोनोंमें अनुस्यूत है और अपने ढंगसे अपना कार्य सम्पन्न करती है—साधककी शक्ति और सामर्थ्यको देखते हुए। लालित्य (सुन्दरता), शुचिता (पवित्रता) और प्रसन्नता (आनन्द) से वह साधकके जीवनको सराबोर कर देती है और उसका अन्तस् वाह्य सब ज्योतिर्मय, आनन्दमय, अमृतमय हो जाता है और वह अनुभव करता है कि जो कुछ है, वह सब आनन्दस्वरूप है, अहितमय है—आनन्दमेव अमृतं

यद्विभाति। यही कृपा-शक्तिका साधकके जीवनमें चमत्कार है, जो कृपाशक्तिसे ही सम्भव है। तन्त्र साधना-पथको इस प्रकार आरम्भसे अन्त तक साधकके लिए सुकर बनाता रहता है। यदि अभीप्सा पवित्र है और संकल्प दृढ़ है, तो वह कृपा-शक्ति अपना चमत्कार दिखाती ही है। जहाँ अभीप्सा और संकल्पमें ढुलमुलपना या लचीलापन है, वहाँ कठिनाइयोंका आना भी स्वाभाविक है। इसके लिए तन्त्र तीन मार्गका निर्देश करता है। दिव्य आचार है, उन साधकोंके लिए, जिनकी प्रकृति में उदात्तता है, जो सहज भावसे इस साधन-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। इन साधकोंके लिए बाह्याचारकी शुचिताका आग्रह नहीं होता। वह प्रकृत्या उच्चतम आध्यात्मिक जीवनका अधिकारी है। दूसरे प्रकारके वे साधक हैं, जिनके अन्दर अभी पवित्रता और दिव्यताका भाव भली भाँति उद्बुद्ध नहीं हुआ है—इन्हें कहते हैं पशु। पशुभावके साधकको साधनाके पथमें घोर श्रम करना पड़ता है—वे तमस् प्रधान प्रकृतिके होते हैं। वीर भावके वे साधक हैं, जो रजस् प्रधान हैं और जो प्राणोंकी निम्नतम माँगके आग्रहका पूरी शक्तिसे प्रतिरोध करते हैं। तन्त्रमें वीर-भावकी बड़ी प्रशंसा है, क्योंकि इस भावके साधक पूरी शक्तिके साथ, सभी कठिनाइयों, विघ्नबाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनों और फिसलनोंको ठेलकर साधन-पथमें पूरे उत्साहसे आगे बढ़नेकी शक्ति रखते हैं। दिव्य साधकको इन कठिनाइयों, प्रलोभनों, विघ्न-बाधाओंका शिकार नहीं होना पड़ता, क्योंकि उसके पावन व्यक्तित्वके समक्ष ये सब नत-मस्तक होकर रास्ता दे देते हैं। अस्तु, तन्त्र-साधना वस्तुतः वीराचारकी साधना है, जिसमें साधक भगवती शक्तिके सहारे साधन-पथके समस्त विघ्नों एवं बाधाओंको सिर पर पैर रखकर अपने उद्देश्यकी संसिद्धिमें प्राणपणसे लगा रहता है। वीर-भाव ही वास्तविक तन्त्र-साधनाका मूल भाव है—दिव्य भावमें सतोगुणकी और पशु-भावमें तमोगुणकी प्रधानता है, परन्तु वीर-भावमें रजोगुणकी प्रधानता होनेसे वह सक्रिय है, धैर्य और साहसका प्रयोग-क्षेत्र है। तन्त्रमें इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका तिरस्कार नहीं है, अपितु इनका शोधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोहका भी उन्मूलन नहीं, संचयन-नियमन है और जिस प्रकार पारद शोधित हो जाने पर अमृतका-सा गुणशाली होजाता है, उसी प्रकार मानव-प्रवृत्तियोंका परिशोधित कर साधक उन्हें साधनाके पथमें प्रवृत्त कर देता है—वह कामसे कामको, क्रोधसे क्रोधको, रागसे रागको वशमें कर लेता है—रागेन बध्यते जीवो रागेनैव प्रमुच्यते। इस साधनामें उसकी अन्तर्दृष्टि खुलने पर सभी पुरुषमें शिव और सभी नारीमें शिवानीके दर्शन होते हैं और स्वयंमें भी वह शिव-पार्वतीका युगनद्ध दर्शन करता है—स्वयं शिव-स्वरूप होकर पार्वतीकी, और पार्वती रूप होकर शिवकी उपासना करता है और उसका समस्त जीवन, श्वास-प्रश्वास उपासना होजाता है, जिसका संकेत शंकराचार्यने अपने सुप्रसिद्ध श्लोकमें दिया है—

> आत्मात्वं गिरिजामतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहम्।
> पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः॥
> संचारप्रदयोः प्रदक्षिणाविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिराः।
> यद्यत् कार्यं करोमि तत्तदखिलं शम्भोतवाराधनम्॥

तंत्रके अनुसार शिवत्वकी उपलब्धिही मुक्तिका स्वरूप है, जिसमें आनन्द तत्व की प्रधानता है। यह आनन्द जीवन और जगत्से पलायन द्वारा नहीं वरं उसे स्वीकार कर उसके परिशोधनमें है। इस प्रकार पशुभावका वीरभावमें ओर फिर वीर भावका दिव्य भावमें रूपान्तरहो जाता है और जो कुछभी असत्य, अशिव, असुन्दर प्रतीत होता है, वह साधककी दृष्टिमें रूपान्तरित होकर, दिव्य होकर सत्यं शिवं सुन्दरं हो जाता है। तंत्र शरीर मन बुद्धि प्राणकी एक एक क्रिया, एक एक हलचलको स्वीकार करता है, उनकी उपेक्षा या तिरस्कार नहीं करता, उन्हें उचित मार्ग पर लगाकर साधकके संपूर्ण जीवन प्रवाहको दिशाविशेषमें मोड़ देता है। इन सभीमें प्राणोंका आग्रह और प्राणोंकी मांग साधकको काफी समय तक चंचल करती रहती है इसलिए वह घबड़ाता नहीं, बहुतही धैर्य और साहससे वह प्राणोंकी हलचलको उसके आवेगको संयमित, नियमित करता रहता है-भलेही इस दिशामें उसकी साधनाकी प्रगति बहुतही शिथिल और धीमी या लम्बी क्यों न हो। प्राणोंका रूपान्तर दीर्घकाल लेता है। इस पर विजय पानेमें समय लगता है, क्योंकि प्राणही हमारे अवयवोंमें सबसे अधिक हठीला है। प्राणिक संयमनके बिना साधक अपने साधनपथमें मुक्त विचरण नहीं कर सकता। इस प्रकार तंत्र हमारी सारी प्रवृत्तियोंके समुचित संशोधन एवं परिमार्जनके द्वारा उनके सम्यक् संचरण विचरणकी व्यवस्था करता है। साथ ही साथ विवेक द्वारा उनसे उपरतिकी प्रेरणाभी देता है। तंत्रका मार्ग भोगसे होकर योगका मार्ग है। वीर आचारमें इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों में रमण करती हुई भी उनसे मुक्त हैं, दिव्य भावमें आत्मिक प्रकाश प्राणिक माँगोंको प्रोज्ज्वलित कर उनमें दिव्य चेतना और दिव्य आनन्दका उन्मेष कर देता है। इसेही प्राणोंका रूपान्तर या दिव्यीकरण कहते हैं। तंत्र साधनाके सभी साधनोंका रूपान्तकरण हो जाता है और वह इतना घनीभूत होता है कि साधक, साधन और साध्यकी एकता या अभिन्नता हो जाती है—यही इस साधनाकी विशेषता है। साधनाके जिस मार्गसे भी किसीसे सिद्धि प्राप्तकी उसे इस मार्ग पर जानाही पड़ता है। जालन्धरनाथकी एक उक्तिका इस प्रसंगमें स्मरण होता है-द्वैतं वाद्वैतरूपं द्वयत तत्परं योगिनां शंकरं वा--अर्थात् परमार्थ तत्व द्वैतभी है, अद्वैतभी है फिर वह द्वैताद्वैत विकल्पसे अतीत है। स्वरूपत: दोनोंमें कोई भेद नहीं है। प्रह्लादने कहा है—नमस्तुभ्यं नमोमह्यं तुभ्यंमह्यं नमोनम:। यहाँ त्वं और अहंका साम्याभाव उपलब्ध हुआ है।

'जैसे काष्ठमें अग्नि दिखाई नहीं देती पर अरणि मंथन और ईंधनकी सहायतासे वह प्रकट होजाती है, इसी तरह इस देहमें आत्मा और परमात्मा दिखाई नहीं देते, पर साधनाके द्वारावे प्रकटहो जाते हैं।' जैसे तिलोंमें तेल, दहीमें घृत, स्रोतोंमें जल और अरणियोंमें अग्नि अदृश्य रहता है, वैसेही हृदयमें परमेश्वर अदृश्य रूपसे रहता है। जो उसे सत्य, संयम और तपके द्वारा देखता है, वही उसे प्राप्त करता है। ईश्वर दर्शन और उसके प्राप्त करनेकी यही शाश्वत प्रक्रिया है। जिस किसीने प्रभुको पाया है, इसी तत्व ज्ञानके आधार पर उसे पाया है।'

"मन्त्रमें भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों ही सिद्धियाँ समाविष्ट रहती हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन जैसे सांसारिक षट् कर्मोंसे लेकर निर्विकल्प समाधि जैसे द्वार पर मन्त्र ले जा सकता है। योगसे अधिक सरल और शक्ति-सम्पन्न है यह प्रकार।"

आराधनाके प्रकार—मन्त्र और योग

श्रीगोविंद शास्त्री

आराधना एक क्षितिज है, जो आराध्य और आराधकके बीचका सबल माध्यम है। आराधनाका अस्तित्व स्वभावतः दो आधार विन्दुओं पर है, किन्तु यह पगडण्डी लक्ष्य पर पहुँच कर समाप्त हो जाती है। आराध्यका आराधकमें एकरूप होजाने पर ही इस मध्य विन्दुका लोप सम्भव होता है। इसी माध्यमको कई नामोंसे जाना जाता है। सांख्ययोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये सब इसी आराधनाके प्रकारान्तर हैं, जिनकी उपलब्धि सदा द्वन्द्व भेदका नाश है। भक्तियोग प्रायः सभी युगोंमें आदरणीय रहा है, क्योंकि उसमें व्यक्तिकी कल्पना, बुद्धिको स्वतन्त्रता रहती है। व्यक्ति अपने कल्पनाके समस्त सौन्दर्यसे अपने आराध्यका निर्माण करता है और उस पर निसार रहता है। यही दीवानगी व्यक्तिको स्वयंके अन्तर्हित विराट्से साक्षात्कार कराती है। इसलिये भक्तियोगकी सुगमता और स्वतन्त्रता सभीके लिये ग्राह्य वस्तु रही है। इस पद्धतिने ही समाजको श्रेष्ठतम भक्त, उदारतम चिन्तक और उदात्ततम सुधारक दिये हैं। भक्तिके निष्काम और सकाम भेद हो सकते हैं, इतर योगोंके नहीं। वैसे योगमें सिद्धियाँ भी एक विश्राम-स्थल हो सकती हैं, किन्तु उद्‌देश्य नहीं। अतः सकामता जितनी भक्तिके साथ संगत वैठती है, उतनी अन्य आराधना-प्रकारोंके साथ नहीं।

आराधनाका एक प्रकार मन्त्र भी रहा है। मन्त्रमें भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों ही सिद्धियां समाविष्ट रहती हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन जैसे सांसारिक षट् कर्मोंसे लेकर निर्विकल्प समाधि जैसे द्वार पर मन्त्र लेजा सकता है। योगसे अधिक सरल और शक्ति-सम्पन्न है यह प्रकार। योगमें वायुका वशीकरण है। वायुमें दो तन्मात्रायें हैं। शब्द और स्पर्श। दोनों तन्मात्राओंका भार बढ़नेके कारण वायुका नियन्त्रण एक सीमित सामर्थ्यका प्रतीक है, जबकि मन्त्रमें केवल शब्द ब्रह्मकी उपासना होती है। स्वभावतः मन्त्रमें एक ही तन्मात्रा होनेसे उसमें जटिलता कम और शक्ति अधिक हो जाती है। मन्त्र पूजक आकाश तत्वकी उपासना करता है। अक्षर-ब्रह्म उसका उपास्य होता है। आजका विज्ञान शब्दकी शक्तिको खोज तो रहा है, किन्तु भारतीय विश्वास तक पहुँचनेके लिये या तो उसे भारतीय

होना पड़ेगा अथवा अब भी शताब्दियों तक निरन्तर खोज करनी पड़ेगी। योगी प्राणवायु द्वारा कुण्डलिनीको जगाता है, उस पर आघात करता है तो मन्त्रज्ञका जाप इस प्रकारके स्फोटों पर चलता है कि उनसे सुषुम्ना स्वतः जागृत होजाती है। बस, यहीं तक योग और मन्त्र भिन्न मार्गी रहते हैं। कुण्डलिनी जगने पर जिस योगीको सहस्र-दल-कमलका रहस्य प्रकट होता है, वही रहस्य मन्त्रोपासकको शेषशायी विष्णुके प्रतीकसे ज्ञात होता है। योगीके अतीन्द्रिय अनुभव मन्त्रज्ञसे अपरिचित नहीं रह सकते।

मन्त्र न कोरा भावना-विज्ञान है, न ध्वनि-विज्ञान ही। मन्त्रका सूत्र—भावनाकी चुम्बकीय शक्ति × ध्वनि = मन्त्र है। भावना, व्यक्ति और उद्देश्यकी सापेक्षता है, किन्तु ध्वनि एक सविशेष बिन्दु है। राग-शास्त्र केवल ध्वनिका चमत्कार है। उसमें भावना गौण ही रहती है, किन्तु मन्त्रमें तो भावनाकी ऊर्जाका गुणक यदि कोई है, तो वह ध्वनि ही। जहाँ तक मैं जान सका हूँ, आजका विज्ञान केवल श्रव्य ध्वनिके ही प्रयोग और परीक्षण कर पा रहा है। उन ध्वनियोंको—जिनका प्रयोग उपांशु और मानसिक जपोंमें होता है—अभी तक उपेक्षित ही समझा जारहा है, किन्तु हम स्पष्टतः जब यह मानते रहे हैं कि शब्द स्फोटसे ही उत्पन्न होता है, तो मानसिक जपोंमें हमारे श्वास द्वारा जिन ध्वनियोंका भान हमें होता है, आखिरकार उनका भी उद्गम कहीं न कहीं तो होता ही है। भले ही आजका विकसित विज्ञान उसे हमारी कल्पना मान ले, किन्तु भारतीय विज्ञान उसे कोरी कल्पनाके रूपमें स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। उस मानसिक स्फोटमें श्रव्य ध्वनिसे सौ-गुना अधिक शक्ति मानने वाला भारतीय (प्राचीन) विज्ञान उसके स्फोटके स्थान और प्रकार जानता-मानता रहा है। वैय्याकरणके स्थापक मुनियोंने जिन वृत्तियोंका उल्लेख किया है, वे प्रयत्नोंके बाद ही समझमें आती हैं। व्याकरणने परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वृत्तिकी जो स्थापना की है, उसमें उस स्फोटकी वृत्ति और प्रवृत्तिका ही सविशेष ध्यान रखा है। यदि हम विशेष ध्यानपूर्वक देखें तो यह स्पष्ट रूपमें समझ सकेंगे कि एक पक्के रागके अभ्यास करने वाले निपुण गायकके स्वरमें कोई असाधारणता है और वह असाधारणता उस गायकके स्वरोद्गमसे ही व्यक्त होती है। वेदोंकी ऋचाओंका यथार्थ उच्चारण भी इसी प्रकारकी असाधारणता पर निर्भर करता है। आरोहावरोहकी साधारण-सी भूल विपरीत फलदायी हो सकती है। 'इन्द्र शत्रोर्विवर्धस्व' का उपाख्यान जानने वाले यह भली-भाँति समझते हैं, जहाँ केवल शत्रो पर विपर्यय हो जानेसे वृत्रासुरको सारे यज्ञका फल मिल गया था।

व्यवहारमें भी 'हृदयकी ध्वनि' अपने आपमें यथार्थ अनुभूतिकी प्रतीक मानी जाती है, वैसे हृदयका गुण ध्वनि नहीं है—इस तथ्यको भारतीय और पाश्चात्य, दोनों ही भौतिक-शास्त्री स्वीकार करते हैं, किन्तु हृदयमें जो अनाहतनादका (उद्गम) चक्र है, उसे योग-शास्त्र जानता भी है और मानता भी, तथा उस चक्रमें जो मार्मिकता होनेका गुण है, वह 'दिलकी आवाज' जैसे मुहावरोंके पीछे छुपा हुआ प्राचीन रहस्य है। व्याकरण-शास्त्रकी उपरिवर्णित चार वृत्तियोंसे भी आगे योग-शास्त्र पहुँचा है। उसने शब्दके लिये षट् चक्रका वर्णन किया है तथा उसका स्वरूप और प्रकृति वर्णनके साथ-साथ किस चक्रसे किस अक्षरका

उदय होता है, इसका बहुतही सूक्ष्म और विशद वर्णन किया है। निम्न तालिकासे यह स्पष्ट होजाता है :—

चक्र	स्थान	दल	उच्चार्यमाण अक्षर
मूलाधार	गुदा	४	व, श, ष, स
स्वाविष्ठान	लिंग	६	व, भ, म, य, र, ल
मणि पूरक	नाभि	१६	ड, ढ, ण तवर्ग प, फ
अनाहत	हृदय	१२	क तथा च वर्ग ट, ठ
विशुद्ध	कण्ठ	१६	समस्त स्वर
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	ह, क्ष

षट् चक्र भेदन प्राण और आकाश तत्व—दोनोंसे सम्भव है। स्थूल रूपसे यद्यपि इन वर्णोंका मूल उद्‌गम शरीरके विभिन्न अवयवोंसे होता हुआ प्रतीत नहीं होता, किन्तु अभ्यास-द्वारा यह सम्पूर्ण रहस्य निरावृत किया जा सकता है। मन्त्रमें शब्दब्रह्मकी आराधना होती है और उसके स्फोटके द्वारा स्थूलमें परिवर्तन होता है। समस्त व्यक्त सृष्टि किसी अव्यक्तसे ही जन्मी है तथा इस स्थूलका नियमन भी सूक्ष्मके ही द्वारा किया जाता है।

मन्त्रमें मुख्यतः अभीष्टके अनुसार ही ध्वनियोंका वर्गीकरण किया जाता है और उनके निरन्तर जप द्वारा एक वैचारिक ऊर्जाका उत्पादन होता है, जिसके विकिरणसे एक सूक्ष्म वातावरणका निर्माण होता है। यही वातावरण भौतिक अथवा आध्यात्मिक सिद्धियोंका द्वार है।

कई बार प्रश्न उठता है कि मन्त्रके आराधनसे आस्थाको हटा दिया जाय? मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि अधिकांशमें आस्थाहीन मन्त्रकी आराधना सिद्धिदायी हो—ऐसा संदिग्ध माना जाता है, फिर भी मेरी व्यक्तिगत रायमें आस्थाका होना न होना कोई अपरिहार्य वस्तु नहीं। मन्त्रमें यदि सामर्थ्य है, आराधनामें यदि सर्वांशतः निर्दोषिता है, तो आस्थाको देर-अबेर आना ही होगा। आस्था अपने-आपमें एक महत्वपूर्ण लगन है। जो आस्थाको छोड़नेकी बात करते हैं, वे स्वयं भूल ही करते हैं; क्योंकि यदि उनको आराधनामें आस्था ही नहीं रहती तो वे उसका मार्ग ही क्यों पूछते? इसलिये भी मैं ऐसे व्यक्तियोंकी अनास्थामें आस्थाका प्रच्छन्न रूप देख लिया करता हूँ।

आज जिस विज्ञानकी भौतिक उपलब्धियाँ देखकर हम चमत्कृत हो रहे हैं, वह प्राक्तन युगमें असम्भव रहा होगा—यह कहना युक्ति संगत नहीं। हाँ, प्रकारोंमें देश-काल-जनित अन्तर होता है, होना चाहिए। आजके सिद्धान्तके अनुसार विद्युत् धारा प्रतिरोधी तरंगोंसे गमन करती है तथा ध्वनि तरंगोंके माध्यमसे। वेदकी ऋचाओंमें ह्रस्व तथा प्लुतके लिये, आरोह और अवरोहके लिये दिये गये चिह्न उसी ध्वनिकी बारम्बारता (फ्रीक्वैंसी) के सूचक हैं। होता यह है कि मन्त्रके साथ जब भावनाकी चुम्बकीय धारा प्रवाहित होती है

तो अभ्यास द्वारा दोनोंकी एक-सी गति होजाती है और जब दोनों समान गतिसे गमन करने लगती है, तो कोई भी वातावरण बननेमें देर नहीं लगती। हमारे मस्तिष्कमें से विचारोंकी तथा शरीरसे भी एक ऊर्जाका विकिरण अहर्निश होता रहता है, किन्तु वह व्यवस्थित नहीं होनेके कारण सामयिक बन्धनोंसे मुक्त नहीं हो पाता। अन्यथा उसके लिये समय और दूरीकी सीमायें कोई महत्व नही रख पातीं। यदि हमारे मस्तिष्कको विशुद्ध और सुसंवेदनशील बना लिया जाय तो हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ही बड़े चमत्कारकी बातें बता सकती हैं। हमारे निकटस्थ अथवा दूरस्थ व्यक्तिकी विचार तरंगोंको पकड़ लेना और उनका अर्थ समझ लेना कोई बड़ी बात नहीं है। मन्त्र इस प्रकारकी चमत्कारकारी स्थितिको पानेके लिये सरल और सुगमतर आराधना है, किन्तु उसका शुद्ध और सरल साधन हो, तभी।

श्रीकृष्णकी आराधना हमें श्रीकृष्णके जीवन-इतिहासको सामने रख करके ही करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्णके जीवन-इतिहासमें दो बातें मुख्य रूपसे बार-बार सामने आती हैं—'एक तो आर्त कण्ठोंकी पुकार पर उनका अतिशय द्रवित होना, और दूसरा फलकी आकांक्षा किए बिना कर्म करना। भगवान् श्रीकृष्णके जीवन-पटल पर, इन्हीं दोनों बातोंके चित्र बार-बार सामने आते हैं। उनके जीवन-पटलके अन्यान्य चित्रोंसे, इन्हीं दोनों बातोंके चित्र अधिक प्रभावपूर्ण और प्रेरक भी हैं। आर्त कण्ठोंकी पुकार सुनकर, उनकी सहायताके लिए पहुँचनेमें भगवान् श्रीकृष्ण ने, धरतीकी अनंतता बार-बार नाप डाली है। जब जहाँ जिसने अन्यायसे पीड़ित होकर उन्हें पुकारा, वे ब्रह्माण्डको लाँघते हुए वहाँ पहुँचे, और अन्यायियोंको दण्ड देकर, दुःखी प्राणोंमें नये जीवनका संचार करनेके साथ ही साथ धर्म तथा शान्तिकी स्थापना की। निरासक्त रूपमें वे आजीवन 'कर्म' में ही प्रवृत्त रहे। उनका प्रादुर्भाव ही 'कर्म' की गोदमें हुआ था। उनके प्रादुर्भावके मूलमें जो कथाएँ मिलती हैं, उनसे भी 'कर्म' को ही प्रेरणा मिलती है। जन्मसे लेकर गोलोक गमन तक—वे कर्मकी ही उपासनामें रत रहे। उनकी पवित्र वाणीमें, जो गीताके रूपमें प्रकट हुई है, कर्मका ही संदेश है। अतः श्रीकृष्ण भगवान्की आराधनामें भी इन्हीं बातोंका समावेश होना चाहिए। श्रीकृष्ण भगवान्की संतुष्टिके लिए यह आवश्यक है कि हम उसी पथ पर चलें, जिसका निर्माण उन्होंने स्वयं अपने पवित्र आचरण और लौकिक व्यवहारोंके द्वारा किया है। श्रीकृष्ण भगवान्की सच्ची आराधना उनके द्वारा निर्देशित पथों, और आदर्शों पर चलनेसे ही हो सकती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उनकी आराधनामें आराधनाके अन्यान्य पथोंको छोड़ दें, इसका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि हम भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना चाहे जिस रूपमें करें, पर सतत् यह ध्यान रखें कि भगवान् श्रीकृष्णने आर्त कण्ठोंकी पुकार पर, सम्पूर्ण विश्व और ब्रह्माण्ड को भी छोड़ दिया था।

स्वामी भास्करानन्द

"मीरा वस्तुतः भक्तिकी वह धवल धारा हैं, जिसमें सारे संघर्ष-विघर्ष धुल जाते हैं, ईर्ष्या-द्वेषकी समस्त दुष्ट-जिह्म रेखाएँ विलीन होजाती हैं और उससे निनादित होता है केवल आत्माका नैसर्गिक संगीत। यह संगीत और कुछ नहीं, बस अन्तरतमकी पीड़ाका सरल-सहज उद्वेलन है।"

श्रीकृष्णकी आराधिका—'मीरा'

श्रीनागेश्वरसिंह 'शशीन्द्र', विद्यालंकार

वीर-प्रसविनी राजस्थानकी कठोर धरतीकी छाती फोड़कर कभी साहित्य-संगीत-कलाकी एक सरस त्रिवेणी बही थी और सुहृद-रसिकोंने बड़े प्यारसे उसे मीराका नाम दिया। वही मीरा भक्ति-युगकी कृष्ण-प्राण भक्त थीं। मीराके प्रत्येक पद कलासे मुखर हैं। मीरा एक व्यक्ति विशेषका नाम भले हो, लेकिन आज वह व्यक्तिकी सीमित संज्ञामें समा नहीं पातीं। लगता है, विश्व-कलाके इस उपवनमें कदाचित् वह व्यक्तित्त्व बन चुकी हैं एक ऐसा व्यक्तित्व, जिसकी आभा युगोंको पार करके भी अमन्द, अमलिन, अकुल है। मीरा वस्तुतः भक्तिकी वह धवल-धारा हैं, जिसमें सारे सांसारिक संघर्ष-विघर्ष धुल जाते हैं, ईर्ष्या-द्वेषकी समस्त दुष्ट-जिह्म रेखाएँ विलीन हो जाती हैं और उससे निनादित होता है केवल आत्माका नैसर्गिक संगीत। यह संगीत और कुछ नहीं, बस अन्तरतमकी पीड़ाका सरल, सहज उद्वेलन है। इसका एकमात्र यही कारण है कि मीराने कलाकी शिक्षा नहीं पायी थी, कला-प्रदर्शनके लिए गीत नहीं गाये थे। प्रेम-भावावेशमें 'दरद दिवानी' बन जो कोयल की तरह—

कोई कहियो रे प्रिय आवन की।
आवन की, मन भावन की।
ये दोउ नैन कह्यौ नहीं मानें—
नदिया बहे जैसे सावन की।
कहा करौं कछु बस नहीं मेरौ
पाँख नहीं उड़ जावन की।

'कूक गयी तो उसमें प्रकृति-प्रदत्त पंचम स्वर अपने-आप आ गया। मीरा पीड़ाकी वह सजीव प्रतिमा हैं, जो अपने गिरधर-नागर कन्हैयाके चरणों पर ही अपनेको अर्पित कर चुकी हैं :—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरौ न कोई।
दूसरौ न कोई साधो, सकल लोक जोई।
भाई छोड़्या, बन्धु छोड़्या, छोड़्या सगा सोई।
साधु संग बैठ-बैठ, लोक लाज खोई।
भगत देखि राजी भई, जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच-सींच, प्रेम बेल बोई।

मीरा वासनाओं और कामनाओंसे अपनेको दूर रख गोकुलके कृष्णको ही सब कुछ सौंप चुकी थीं। मीरा वह नारी थीं, जो गिरधर गोपालकी अपनी थीं—

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलौ री सखि, मिलि राखि कैं नैना रस पीजै हो॥
स्याम सलौनौ साँवरौ मुख देखे जीजै हो।
जोई जोई भेस सों हरि मिलै, सोई सोई कीजै हो॥

मीरा कृष्णके प्रेमाग्रहको सहज ही टाल देने वाली नहीं थीं, उनके समस्त जीवनमें एक ही उद्देश्य, एक ही भाव, एक ही रस और एक ही रंग था। तभी तो वह गाती थीं:—

पँच रँग चोला पहन सखि मैं,
झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट मँह मिल्यो साँवरो,
खोल मिली तन गाती॥

मीराकी आँखोंमें कन्हैयाका निवास था :—

बसो मोरे नैनन में नँदलाल।
मोहिनी सूरत, साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल।
मोर-मुकुट मकराकृत कुण्डल, अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल॥

मीरा अपने सम्पूर्ण अस्तित्वकी सार्थकता, कृष्ण-आराधनाकी तल्लीनताको ही मान बठी थीं। मीरा वह थीं, जिसकी प्रत्येक प्रतीक्षामें प्रियतम श्रीकृष्णके लिए विकलता थी और जिसके जीवनका प्रत्येक स्वर कृष्ण-अनुरागसे सराबोर था। तभी तो मीरा सावनके दिनोंमें उमड़ते हुए काले-काले मेघोंमें भी 'मुरलीधर कन्हैया' की परस पाती थीं :—

बरस बदरिया सावन की, मन भावन की।
सावन में उमड़ो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की॥

वहीं सुख-सन्तोषकी सांस भी लेती थीं :—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
चढ़ि चढ़ि महल जोऊँ मेरी सजनी
कब आवें महाराज।

मीरा उस 'दरद दिवानी' की प्रतिमा थीं, जिसने अपने नयनोंके नीरसे प्रीतिकी अमर-बेलिको सिंचित किया था, जिसने घायल हृदयकी विविध सूक्ष्म गतियों, स्थितियोंकी पहचान पाई थी और अपनी प्रेम-पीड़ा श्रीकृष्ण तक पहुंचानेके लिए 'जोगन' तक होनेको तैयार थी। यह वही अवस्था है, जब भक्तकी आत्मा महामिलनकी सामान्य भूमि पर पहुंच जाती है। तभी तो प्रेम-पुजारिन मीरा स्थूलके बन्धनको छिन्न-भिन्न कर महाज्योतिमें मिल गयी थीं :—

अगर चन्दन की चिता रचाऊँ,
अपने हाथ जला जा।
जल बल गई भस्म की ढेरी,
अपने अंग लगा जा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर,
जोत में जोत मिला जा।

मीराका यह दर्दीला स्वर प्रत्येक प्रेमी भक्तकी साधनाका मंगल-मन्त्र है। सुधी समालोचक आचार्य श्रीजानकीवल्लभ शास्त्रीके शब्दोंमें मीराकी कविता प्रेमी-हृदयके अन्तरतमकी सहज पुकार है। मीराको किसी परिचयकी परिधिमें बांध सकना सम्भव नहीं, उसे अश्रु-सिक्त-भाषासे ही समझा जा सकता है।

मीरा भगवान् श्रीकृष्णकी ऐसी प्रेम-पुजारिन थीं, जो व्यथा उल्लाससे उन्मत्त और विगलित थीं। वह एक ऐसी कृष्ण-आराधिका थीं, जो प्रेम उल्लाससे उन्मत्त और व्यथासे विह्वल थीं। तभी तो वह अपनी भावनाओंकी समाधिमें कह उठती थीं :—

बिनु करताल पखावज बाजे,
अनहद की झनकार रे।
बिनु सुर राग छतीसूं गावें,
रोम–रोम रंग सार रे।
उड़त गुलाल लाल भए बादर,
बरसत रंग अपार रे।

"गीताका प्रथम सिद्धांत है, परमात्मा सर्वोच्च है। यह सिद्धांत उपनिषदोंसे लिया जान पड़ता है। गीतामें श्रीकृष्णको उपनिषदोंके विराट पुरुष-ब्रह्म या अक्षरसे सम्बद्ध किया गया है। अन्तर मात्र इतना है कि उपनिषदोंमें परब्रह्म कहा गया है और गीतामें श्रीकृष्ण।"

भागवत-धर्म—गीताके विभिन्न संदेश

सौ० हेमलता उपाध्याय बी. ए., कोविद

भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्मका उदय लगभग ईसाके ६ या ७ शताब्दी पूर्वसे हुआ माना जाता है। इस धर्मके प्रमुख आराध्य देवता भगवान् विष्णु रहे हैं। आरम्भमें कृष्णकी उपासना प्रचलित थी तथा इस धर्मका नाम—वासुदेव धर्म प्रचलित रहा। किन्तु कालान्तरमें वासुदेव कृष्णका तादाम्य विष्णुसे स्थापित कर दिया गया और भागवत-धर्म वैष्णव-धर्मके रूपमें प्रचलित और समृद्ध हुआ।

भागवत-धर्मके प्रारम्भिक सिद्धान्त गीतामें मिलते हैं। वैष्णव-धर्मको समझनेकी दृष्टिसे, श्रीमद्भागवत गीताका विशेष महत्व है। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का अद्वितीय तथा अद्भुत समन्वय है। गीताकी विशेषता रही है कि यह दार्शनिक पक्षको लेकर चलती है, तथा इसमें एकान्तिक भक्तिको विशेष महत्व दिया गया है। गीताके ७ वें अध्याय के १९ वें श्लोकमें कहा गया है:—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति सः महात्मा सुदुर्लभः॥

अर्थात् जो बहुत जन्मोंके अन्तमें तत्व-ज्ञानको प्राप्त हुआ, वह ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है। अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। इस प्रकार जो मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है। गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्ने स्पष्ट किया है कि मैं यादव वंशमें वासुदेवके रूपमें उत्पन्न होकर, मनुष्योंका कल्याण करूंगा। गीतामें श्रीकृष्णको 'जनार्दन', 'केशव' आदि नामोंसे पुकारा गया है, जो भागवत-धर्मके प्रधान देवताके रूपमें ही पूजे जाते हैं।

इसके पूर्व महाभारतके अनुसार ही श्रीहरि और नारायण भागवत-धर्मके प्रधान देवताके लिए प्रयुक्त होते थे। उत्तर-वैदिककालमें विष्णु सबसे बड़े देवता माने गये थे। और इस प्रकार भागवत-धर्ममें विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण सभी नाम भागवत-धर्म के परब्रह्मके पर्यायवाची नाम माने गये हैं।

सार रूपमें भागवत-धर्मके प्रमुख और प्रसिद्ध ग्रन्थ गीतामें निम्नलिखित सन्देश मिलते हैं:—

१. गीताके प्रथम अध्यायमें महाभारतके युद्धका प्रारम्भ बताया गया है। पाण्डवों और कौरवोंकी सेना तथा अपने सम्बन्धियोंको ही युद्धके लिए सामने देख, अर्जुन दुःखसे भर जाते हैं। इसीलिए इस अध्यायको 'अर्जुन विषाद योग' कहा गया है।

इस अध्यायमें अर्जुनके सही मानवीय रूपका चित्रण हुआ है। वे एक साधारण मानवके समान चिंतित हैं और युद्धके द्वारा होने वाले वंश-नाशसे पूर्व परिचित हैं।

२. द्वितीय अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको क्षात्र-धर्मकी आवश्यकताका अनुभव कराते हैं। इस अवसर पर श्रीकृष्ण अर्जुनको, निष्काम भक्ति-कर्मके सिद्धान्तकी व्याख्याको समझाते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'वे व्यक्ति जो स्थित-प्रज्ञ हैं, समत्व योगको प्राप्त करते हैं।' जीवन में बिना परिणामकी चिंता किए मात्र कर्तव्य करते चलना ही एक मात्र ध्येय होना चाहिए। कर्म ही फलको देने वाला है, फल-प्रतीक्षा कर्म करनेके पश्चात् ही की जानी चाहिए। इस अध्यायका नाम 'सांख्य योग' रखा गया है।

३. गीताके तीसरे अध्यायमें जीवनके एक और महत्वपूर्ण विषय 'कर्म' की शिक्षा दी गई है। इस अध्यायका संदेश है कि जो व्यक्ति अनासक्त भावसे निश्चित कर्मको करते रहते हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं। इस अध्यायमें ज्ञानी तथा अज्ञानी व्यक्तिके लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट किया गया है कि राग-द्वेष से परे होकर ही कर्म करना चाहिए।

कर्मका ध्येय कर्म हो, बिना कर्मके मनुष्यका कोई अस्तित्व नहीं। कर्म ही हमारा सच्चा साथी है। जीवनमें कर्मको ही प्रधानता दी जानी चाहिए, भावनाको नहीं। इसीलिए इस अध्यायको 'कर्म योग' के नामसे जाना जाता है।

४. चतुर्थ अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वरके सगुण रूपका महत्व समझाया है। दूसरी ओर इसी अध्यायमें योगी और महापुरुषके आचरणोंका वर्णन किया है। पृथक्-पृथक् यज्ञोंका उल्लेख करते हुए ज्ञानके महत्वको स्पष्ट किया गया है। इन्हींके माध्यमसे पुनः निष्काम कर्मयोग पर बल दिया गया है। अतः इसका नाम 'ज्ञान कर्मयोग' है।

५. गीताके पाँचवे अध्यायका नाम कर्म सन्यास योग है, जिसमें कुशलतापूर्वक कर्म करनेको योगकी संज्ञा दी गई है। इसमें सांख्य योग और निष्काम कर्मयोगकी व्याख्याकी गई है। अन्तमें भक्ति सहित ध्यान योगका महत्व भी स्पष्ट किया गया है।

कर्मको कुशलतापूर्वक करते रहनेकी प्रेरणा देना ही इस अध्यायका मुख्य ध्येय है।

६. इस अध्यायमें आत्म-संयम पर प्रकाश डाला गया है। निष्काम कर्म योग और योगका अभ्यास करने वाले पुरुषोंके लक्षण वर्णित हैं। साथ ही ध्यान योगका विस्तारसे वर्णन किया गया है। अन्तमें योग-भ्रष्ट पुरुषोंकी गति और ध्यान योगकी महिमाका वर्णन है।

७. गीताके इस अध्यायको ज्ञान-विज्ञान योगकी संज्ञा दी गई है। आरम्भमें साहित्य, विज्ञान ज्ञानका वर्णन किया गया है। विश्वके समस्त पदार्थोंका मूल कारण विराट् भगवान्को माना गया है, आसुरी स्वभाव वालेकी निन्दा, तथा भगवद्-भक्तोंकी प्रशंसा की गई है। साथ ही अन्य अनेक देवताओंकी उपासना का महत्व भी दर्शाया गया है। अन्तमें यह समझाया गया है कि भगवान्के प्रभाव और स्वरूपको भली-भाँति समझ पाना ही मनुष्यका ध्येय होना चाहिए।

८. इस अध्यायमें ब्रह्म पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म के विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको समझाते हुए भक्तिका मार्ग दिखाते हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम भक्ति-योग रखा गया है।

९. इस अध्यायमें जगत् सम्बन्धी परिचय दिया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार संसारकी उत्पत्ति हुई है।

१०. दसवें अध्यायमें भगवान्‌की विभूति और योग-शक्तिका वर्णन किया गया है। इस अध्यायको इसीलिए विभूति योग कहा गया है।

११. इस अध्यायमें अर्जुनको भगवान्‌ने अपने विराट रूपके दर्शन कराये हैं। यह रूप वीभत्स है, जिसे देखकर अर्जुन भयभीत हो जाते हैं और उनसे चतुर्भुज रूप दिखानेकी प्रार्थना करते हैं। तब भगवान् अपना वास्तविक रूप बताकर स्पष्ट करते हैं कि मेरा यह रूप देवताओंको भी दुर्लभ है, किन्तु मेरे परम भक्त होनेके कारण तुम मेरे इस रूपका दर्शन करनेमें सफल हुए।

१२. इस अध्यायमें भगवान्‌की सगुण और निर्गुण भक्तिका वर्णन है तथा भगवान्‌को प्राप्त करनेके साधन बतलाये गए हैं, साथ ही ईश्वरके दर्शन करने वाले, उपासकोंके लक्षण भी स्पष्ट किए गए हैं।

१३. इस अध्यायका विषय है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। इसमें प्रकृति और पुरुषका वर्णन किया गया है। यह अध्याय मुख्य रूपसे दार्शनिक है, जिसमें 'वैशेषिक दर्शन' की अनेक बातें स्पष्ट हुई हैं।

१४. इस अध्यायमें स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति और पुरुषसे संसारकी उत्पत्ति हुई है। इसके पश्चात् त्रिगुण—सत, रज और तमका वर्णन किया गया है तथा बतलाया गया है कि ईश्वर प्राप्तिके लिए इन गुणोंसे ऊपर उठना आवश्यक है अर्थात् निस्त्रैगुण बनना चाहिए।

१५. इस अध्यायमें ससारकी उत्पत्तिको पीपलके वृक्षके रूपकसे समझाया गया है, और जीवात्मा तथा परमात्माके स्वरूपको स्पष्ट किया गया है। अन्तमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—तीनों तत्वोंको समझाया गया है।

१६. इस अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन है तथा इन सम्पदाओंको प्राप्त, मनुष्योंके लक्षण और उनकी गतिका वर्णन है। अन्तमें शास्त्रानुकूल, आचरण करनेकी आज्ञा दी गई है।

१७. इस अध्यायमें, श्रद्धा तथा शास्त्रके अनुसार कार्य करने की आवश्यकता समझाई गई है। आहार, यज्ञ, तप और दानको अलग-अलग रूपसे स्पष्ट किया गया है। अन्तमें भगवान्‌के सबसे प्रिय नाम 'ओम् तत्सत्' की व्याख्या की गई है।

१८. इस अध्यायमें त्यागकी व्याख्या की गई है। ज्ञान तथा कर्मका भेद पुनः स्पष्ट रूपसे समझाया गया है। वर्ण धर्मकी आवश्यकता स्पष्ट की गई है। अन्तमें भक्ति सहित निष्काम कर्म योगको समझाते हुए गीताका ज्ञान समाप्त हुआ है।

भागवत धर्मके सिद्धान्तोंमें गीताके सिद्धान्तोंका समन्वय है। धर्मके सिद्धान्तोंमें भक्ति, कर्म और ज्ञानका संगम है। किन्तु वासुदेवकी भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। गीताका प्रथम सिद्धान्त है परमात्मा सर्वोच्च है। यह सिद्धान्त उपनिषदोंसे लिया गया जान पड़ता है। गीतामें श्रीकृष्णको उपनिषदोंके विराट्-पुरुष—ब्रह्म या अक्षरसे सम्बद्ध किया गया है, अन्तर मात्र इतना है कि उपनिषदोंमें परब्रह्म कहा गया है और गीतामें श्रीकृष्ण। इसके अतिरिक्त गीतामें पूर्व प्रचलित धार्मिक परम्पराओंका भी निर्वाह किया गया है। गीतामें सांख्य, वैशेषिक तथा योगके सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं। उपनिषदोंमें मुख्यतः श्वेताश्वतर उपनिषद् और भारतीय दर्शनका प्रारम्भिक रूप मिलता है। इस प्रकार इन बातोंको देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि भागवत धर्मका सैद्धान्तिक पक्ष उपनिषदोंसे लिया गया है और गीतामें सभी धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओंका समन्वय है।

In the days of yore when barbarism rules supreme, people knew not many things that could shower pleasure and happiness in their mundane life. They were solaced with what they had and could not even dream of the common items of present-day world.

With the evolution of civilization human society discovered many things which enriched life and enhanced joy. To-day, Tea has become indispensable as a source of vigour and vitality. A cup of tea not only sparks cheerfulness it creates friendly atmosphere too. Naturally one must look for the best and for that always remember.

Bengal Tea Co., Ltd.

11, Brabourne Road, Calcutta-1

***Phone* ; 22-0181 (4 lines)**

GARDENS

POLOI TEA ESTATE

DOOLOOGRAM TEA ESTATE

PALLORBUND TEA ESTATE

निर्माणाधीन भागवत-भवनके अग्रभागका रेखा-चित्र

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

घर-घरमें सुख और शान्तिकी सरिता बहानेके लिये

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराका

मासिक प्रकाशन

श्रीकृष्ण - सन्देश

-❧-

कृपया ग्राहक बनिये, अपने इष्ट-मित्रोंको भी बनाइये

और इस निमित्तसे

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पावन पुनरुद्धार-यज्ञमें भाग लेकर पुण्य कमाइये।

वार्षिक शुल्क ७)– आजीवन शुल्क १५१)

पत्र-व्यवहारका पता

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

केशवदेव-कटरा, मथुरा. (उ० प्र०)

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुराके लिए श्रीदेवधर शर्मा द्वारा प्रकाशित एवं जगदीश भरतिया द्वारा बम्बई भूषण प्रेस, मथुरा में मुद्रित।

आवरण मुद्रक - बृजवासी फाइन आर्ट औफसैट वर्क्स, मथुरा।